कर्मों की गहन गति

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय
विश्व विद्यालय

कर्मों की गहन गति

अमृत सूची

क्र०	विवरण	पृष्ठ सं०
1.	कर्म, अकर्म और विकर्म	3
2.	इस विधि काहे न कर्म करें?	10
3.	कर्म-विधि	17
4.	कर्म विधान और उसका ज्ञान	24
5.	कर्म करें तो कैसे करें?	30
6.	पवित्र प्रवृत्ति	36
7.	कर्म की गहन गति	44
8.	कर्म-गति	57
9.	विकार रहित कर्मों से ही सुख और शान्ति	62

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय
आबू पर्वत (राजस्थान)

कर्मों का ईश्वरीय ज्ञान

संसार में कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं जो कर्मो के बन्धन में न बंधा हो। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को कर्मों की गति का सत्य अथवा सम्पूर्ण ज्ञान नहीं, वर्ना वे उसके बन्धन में न बंधते। कर्मों से सदा-मुक्त तो एक परमपिता परमात्मा ही है। उन्हें ही कर्मों की गहन गति का पूर्ण ज्ञान भी है। अत: वे ही मनुष्य को सत्य ज्ञान देकर तथा योग सिखाकर बन्धन से मुक्त होने का रास्ता बताते हैं। उन्हीं द्वारा प्राप्त ज्ञान का इस छोटी-सी पुस्तिका में उल्लेख है। विषय बड़ा गम्भीर है और पुस्तिका बहुत छोटी है, अत: इसमें ज्ञान को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में दिया गया है।

– ब्र.कु. जगदीशचन्द्र

लेखक :
ब्र.कु. जगदीशचन्द्र

प्रकाशक एवं मुद्रक:
साहित्य विभाग,
ओमशान्ति प्रेस, ज्ञानामृत भवन,
शान्तिवन, **आबू रोड – 307 510**
☎ – 28124, 28125

पुस्तक मिलने का पता:
साहित्य विभाग,
पाण्डव भवन, **आबू पर्वत – 307 501**

कापी राइट:
प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय,
पाण्डव भवन, **आबू पर्वत – 307 501**
राजस्थान, भारत ।

कर्म, अकर्म और विकर्म

'पाप'और 'पुण्य'अथवा 'कर्म'और 'विकर्म'की परिभाषा को लेकर चिरकाल से संसार में विवाद होता चला आया है। कुछेक लोगों का कहना है कि पाप और पुण्य का वस्तुत: कुछ भी भेद नहीं है, भेद केवल अपनी दृष्टि अथवा मान्यता का है। कुछ लोग जिस कर्म को 'पाप'मानते हैं, उसे ही कुछ अन्य लोग 'पुण्य' मानते हैं। अत: प्रश्न उठता है कि इनका निर्भ्रान्त रीति से ज्ञान क्या है? पुनश्च, कर्म से सम्बन्धित अन्य प्रश्नों का समाधान क्या है? उदाहरण के तौर पर क्या कर्म-फल भोगने के लिए योनि-परिवर्तन होता है या 'स्वर्ग और नरक'नाम वाले किसी लोक विशेष में गमनागमन करना पड़ता है? इन सभी प्रश्नों पर शिव बाबा ने हमें स्पष्ट रूप से समझाया है। उस ज्ञान-सागर के अथाह ज्ञान में से ली ज्ञान-गागर से हम यहाँ कुछ ज्ञान-बिन्दु पिपासु आत्माओं को अर्पित कर रहे हैं –

कर्मों का सम्बन्ध देश और काल से

इस संसार में जो भी मानवी कर्म होते हैं उसको समझाने के लिए उसके समय और स्थान या समाज को भी जानना ज़रूरी होता है। अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि हरेक चित्र की कोई-न-कोई पृष्ठ-भूमिका अवश्य होती है (There is no picture without a background)। इसी प्रकार, **यह भी शाश्वत सत्य है कि कर्म का देश, काल अथवा सामाजिक वातावरण** (Social cultural and economic environmoent and ecology) **से भी सम्बन्ध होता है।** उदाहरण के तौर पर जिस समाज में धनी और निर्धन लोग दो वर्ग हों वहाँ ही चोरी, शोषणादि होने की सम्भावना

अथवा अधिक सम्भावना होती है। जिस देश, समाज या काल में आर्थिक स्तर ही जीवन का सर्वप्रमुख मूल्य रखता हो, उस देश, काल, समाज के लोग धन को ही सर्वोपरि महत्व देते हुए येन-केन-प्रकारेण धन एकत्रित करने का यत्न करते हैं और इसलिए, वहाँ रिश्वत, चोर-बाजारी इत्यादि जैसे घृणित कर्म भी कर लेते हैं। जिस देश, काल, जाति में वीरता, साहस और शारीरिक क्षमता का बोलबाला हो, वहाँ 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (Might is right) अथवा 'बन्दूक की नाली ही सर्व शक्ति प्रदायक है' (Power comes from the barrel of a gun) कर्मनीति इस मन्तव्य पर आश्रित होती है। जिस समाज में सभी लोग तृप्त हों, उनके पारस्परिक सम्बन्ध् भी अति निकटता के तथा स्नेह-युक्त हों, उस समाज में लूट-खसूट या चोरी-चकारी नहीं होती। हमारे यहाँ 'यथा राजा तथा प्रजा' की युक्ति भी प्रसिद्ध है। यदि राजा लोकप्रिय हो, चरित्रवान हो, जनता की भलाई के कार्य करने वाला हो, नैतिकता के आचरण में पूर्णत: आस्थावान हो, तो उस देश में तथा उस शासनकाल में लोग बुराइयों से बचकर रहते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों का समाज पर तथा समाज का व्यक्ति के चरित्र पर प्रभाव पड़ता है।

इन सभी बातों को समन्वित करते हुए परमात्मा शिव ने इस अनादि सृष्टि में एक **इतिहास-चक्र** (History Cycle) का उल्लेख किया है। मानवी कर्मों के आधार पर समूचे ऐतिहासिक काल को पाँच युगों में विभाजित किया गया है। जैसे किसी पतीले में पकते हुए चावलों में से हम चमचे में थोड़े ही बाहर निकालकर उनमें से दो-चार को देखने से जान जाते

हैं कि चावल गल गए या नहीं वैसे ही शिव बाबा भी संसार में कुछेक व्यक्तियों को उस काल के प्रतीक मानते हुए अथवा कर्म-नायक, मतस्थापक, धर्म-प्रणेता, युग-प्रवर्तक अथवा सम्प्रदाय-संस्थापक मानते हुए कर्म का भी ज्ञान देते हैं। वास्तव में ये सभी 'मत-स्थापक' एक अटूट शृंखला की कड़ियाँ (Links of the Chain of World Events) होते समाज हैं। कारण और परिणाम की ऐतिहासिक भित्ती पर अथवा व्यक्ति और समाज तथा समाज और व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया का यह फल होता है। जैसे सामाजिक विज्ञानों (Social Sciences) में नमूनों को देखने (Sample Survey) से निष्कर्ष निर्धारित किये जाते हैं, वैसे ही विश्व - नाटक में इन व्यक्तियों (Principal Actors) से एक नयी ऐतिहासिक धारा को जान सकते हैं और उससे ही तत्कालीन नर-नारी के कर्म की स्थिति से भी परिचित हो सकते हैं। हम जिसे श्रेष्ठ 'कर्म' अथवा '**सत्कर्म**' कहते हैं, उसकी भी बहुत-सी कलाएँ होती हैं और जिन्हें हम 'विकर्म' की संज्ञा देते हैं उसके भी अनेक अन्तर (Shades) होते हैं। इन मत-स्थापकों के प्रतीक द्वारा हमें श्रेष्ठ कर्म और विकर्म की भी कलाओं का बोध होता है। गोया यह उस काल की कार्मिक स्थिति के थर्मामीटर (Thermometer) पर की डिग्रियाँ हैं। परन्तु यहाँ इस पुस्तिका में इस सब का विस्तृत उल्लेख करना सम्भव नहीं होगा। हम यहाँ मोटे तौर पर विश्व-इतिहास के संदर्भ में, अकर्म तथा विकर्म का भेद बतायेंगे।

कर्म अकर्म और विकर्म का भेद

शिक्षण के तरीकों में कहा गया है कि कोई नई बात बताने के लिए

हमें ज्ञात बात से शुरू करके अज्ञात बात तक अपनी व्याख्या को ले जाना चाहिए।[1] इस सूक्ति के अनुसार हम पहले वर्तमान युग से ही प्रारम्भ करते है। इस युग में जो मुख्य धारा बह रही है, जिसमें कि समूचा जन-मानस डूब-सा रहा है, वह अनैतिकता ही है। मनुष्य आज नैतिक अकुंश को नहीं मान रहा है, वह आध्यात्मिक मूल्यों को अपनी उन्नति में बाधा समझता है। कई धार्मिक ग्रन्थों की बातों को विज्ञान द्वारा गलत सिद्ध किए जाने के कारण भी बहुत-से लोंगो की धर्म पर (यद्यपि आज धर्म सच्चे स्वरूप में नहीं है) आस्था उठ गयी है। कई लोग विज्ञान को तथा अन्य कई धन को ही भगवान मानते हैं। तीसरी प्रकार के लोग शासन सत्ता के अतिरिक्त किसी सर्व-शक्तिमान परमात्मा को नहीं मानते। वे आहार-व्यवहार की सात्त्विकता के नियमों को ख्वामख्वाह के बन्धन मानते हैं। जो थोड़ी-बहुत भक्ति और पूजा होती भी थी, उसे भी लोग सौदा-बाजी, कमाई, दिखाई तथा दिल-बहलावे का रूप दिये हुए हैं। ऐसे वातावरण में मनुष्य आज जो भी कर्म अज्ञानतावश कर रहा है, वे **'घोर विकर्म'** ही है।

यों जो कोई भी व्यक्ति देह-अभिमानी है, अर्थात स्वयं को 'आत्मा' न मानकर पंच-भौतिक शरीर माने हुए है और परमपिता परमात्मा से प्रीति जोड़ने की बजाय कर्मेन्द्रियों के विषयों के आकर्षणों में बंधा हुआ है, वह विकर्म ही करता है। तभी तो आज उसके फलस्वरूप मानसिक तनाव, अशान्ति और दु:ख है।

इस सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति में जो लोग

---

1. We should proceed from known to unknown

परमपिता परमात्मा से, आत्मा, परमात्मा, सृष्टि, कर्म, साधना इत्यादि के विवेक सम्मत एवं यथा-सत्य ज्ञान प्राप्त करके योग-युक्त हों, अर्थात आत्मिक स्मृति में स्थित होकर कर्म कर रहे है, उनके कर्म 'सत्कर्म' हैं। चूँकि अब वे विकारी से निर्विकारी तथा पतित से पावन बन रहे हैं, अत: उनके लिए यह युग कलि के अन्त और सतयुग के अभ्युदय का संधिकाल (संगमयुग) है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि काम, क्रोधादि विकारों में से किसी भी विकार से युक्त अथवा देह-अभिमान पर आधारित कर्म ही 'विकर्म' हैं जिसका फल दु:ख, अशान्ति और तनाव होता है।

मनुष्य की आज जो ऐसी तमोप्रधान, पतित एवं विकारी स्थिति है, वह कुछ दिनों अथवा वर्षों में ऐसी नहीं हो गयो बल्कि इस स्थिति तक पहुँचने में समाज अथवा व्यक्ति को एक पूरा युग लगा हैं। एक सहस्र वर्ष (Millennium) से भी अधिक समय हुआ हैं। लगभग 1200 वर्ष पहले मनुष्य फिर भी कुछ अच्छा था। उसमें त्याग की भावना थी, तप की इच्छा थी, स्वार्थ को छोड़ने पर कुछ ध्यान था, वह भगवान को मानता था, वह नैतिक मूल्यों को अपनाने के लिए प्रयत्नशील था, वह अर्थ की तुलना में 'धर्म' को अधिक मूल्य देता था। उस युग को **'द्वापर युग'** कहा जाता है। उस युग में धर्म और कर्म-दो अलग पुरों में बँट गये थे। तब भी लोग देह-अभिमानी थे परन्तु उनमें महान बनने की इच्छा थी। उसके लिए वे मार्ग ढूंढ रहे थे। अज्ञानता, देह अभिमान तथा विकारों के कारण कर्म तो उनके भी **'विकर्म'** ही की संज्ञा के अन्तर्गत थे, तथापि उनके कर्म घोर 'पाप' नहीं थे; वे तमोप्रधान न होकर 'रजोप्रधान' थे। समाज की यह स्थिति भी तुरन्त

ही नहीं आ बनी थी बल्कि ये भी सैंकड़ों वर्षों ही से मानव की पवित्रता की कलाओं को धीरे-धीरे कम होने का परिणाम था। इससे पहले का युग 'त्रेतायुग' था। तब सदाचार, नैति-कता, पवित्रता-समाज और व्यक्ति में प्रतिष्ठित थी। उस युग को 'त्रेतायुग' कहा जाथेगा। वह आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व था। तब 'धर्म' और 'कर्म' या 'गृहस्थ' और 'आश्रम' अलग नहीं थे। पूजा-पाठ, मन्दिर, मस्जिद इत्यादि नहीं थे बल्कि लोंगो का आचरण तथा व्यवहार-व्यापार सभी दिव्यतायुक्त था।

उससे 1200 वर्ष पहले सभ्यता अपने परम उत्कर्ष पर थी। लोग धन-धान्य सम्पन्न थे, परन्तु किसी वस्तु में उन्हें आसक्ति नहीं थी। वे देह-अभिमानी नहीं थे, बल्कि **देही निश्चय-बुद्धि थे। उनमें विकार नाम मात्र भी नहीं थे।** वे सर्व दिव्य-गुणों से सम्पन्न थे। अत: उन्हें 'देवी-देवता' की संज्ञा दी जाती है। तब प्रकृति भी अपनी पूर्णत: शुद्ध एवं सतोप्रधान अवस्था में थी।

प्रश्न उठता है कि मनुष्यों को कर्मों की यह श्रेष्ठता कब और कैसे प्राप्त हुई और फिर पतन कैसे शुरू हुआ? इस उत्थान और पतन के इतिहास में कर्म का क्या स्थान है?

इस विषष में यह ज्ञातव्य है कि कलियुग के अन्त और सतयुग के आरम्भ के संधिकाल में जब शिवबाबा ज्ञान, योग, दिव्यगुणों की धारणा तथा सेवा की शिक्षा देते हैं, तब उनके अनुसार आचरण करने वाले आत्मनिष्ठ एवं पवित्र लोगों के कर्म तो **'सत्कर्म', 'महान् कर्म', 'अलौकिक कर्म'** अथवा एक प्रकार से 'दिव्य कर्म' होते हैं। उन कर्मों

के द्वारा ही वे स्व स्व-पुरुषार्थ, स्थिति तथा निर्विकारिता की स्टेज के आधार पर भविष्य में सतयुगी या त्रेतायुगी सृष्टि में पवित्रता, सुख तथा शान्ति रूप प्रालब्ध प्राप्त करती हैं। अत: सतयुग और त्रेतायुग के कर्म शुभ, **भोग्य कर्म** अर्थात् पुर्व काल में हुए कर्मों का 'फल भोगने रूप' ही कर्म होते हैं। इस प्रकार उनके कर्म ही 'अकर्म' हैं क्योंकि वे विकर्म भी नहीं करते और संगमयुग के पुरुषार्थियों की भाँति 'सत्कर्म' भी नहीं करते। उनके ये कर्म पूर्वकाल में ज्ञान तथा योग द्वारा ही बने होते हैं। इसी प्रकार, त्रेतायुग में भी ऐसे ही कर्म होते हैं। परन्तु धीरे-धीरे, जब मनुष्य देहाभिमानी बन जाता है, तब उसके कर्म द्वापर युग में और उसके पश्चात् कलियुग में 'विकर्म' बन जाते हैं। **परन्तु यह कैसी विडम्बना है कि लोग यही मानते चले आये हैं कि हरेक युग में सतो, रजो, और तमो कर्मों वाले लोग होते हैं और कि कलियुग में भी सतोगुणी अथवा सत्कर्मों वाले लोग होते हैं। वास्तव में यह मान्यता गलत है। कलियुग में सभी तमोगुणी होते है यद्यपि उनमें तमोगुण की मात्रा का अन्तर होता है।**

कर्म, अकर्म तथाा विकर्म की इस गति को जान कर अब हमें इस कलियुग में श्रेष्ठ कर्म अथवा सत्कर्म करने चाहिए और भविष्य के लिए सतयुगी पावन सृष्टि में सम्पूर्ण सुख, शान्ति की प्राप्ति का पुरुषार्थ करना चाहिए। हमें यह मालूम होना चाहिए कि वर्तमान युग 'संगमयुग' है। अब परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा कर्मगति का वास्तविक ज्ञान दिया है। उस ईश्वरीय ज्ञान तथा सहज राजयोग के आधार पर हम अपने कर्मों को श्रेष्ठ बना सकते हैं, पिछले विकर्मों को भी दग्ध कर सकते है, भावी दो युगों के लिए उच्च प्रालब्ध बना सकते हैं और कर्मातीत अवस्था प्राप्त कर सकते हैं।

इस विधि काहे न कर्म करें?

सभी आध्यात्मवादी लोग परमात्मा को 'शान्ति का सागर' मानते हैं। अब यदि शान्तिस्वरूप परमात्मा की सन्तति होने पर भी हमारे मन में अशान्ति तथा मानसिक तनाव इत्यादि पैदा होते हैं तो स्पष्ट है कि हमारे कर्म करने की विधि में कोई-न-कोई भूल हैं क्योंकि यह एक सर्वमान्य नियम हैं कि विधि ठीक न होने से ही सिद्धि नहीं होती अथवा युक्ति न होने से ही दु:ख से भी मुक्ति नहीं मिलती। अत: मानसिक बोझ (Strain), थकान या तनाव (Tention) से छुटकारा पाने के लिए भी कर्म के विधि-विधान का ठीक रीति से जानना ज़रूरी हैं।

परमपिता परमात्मा शिव ने मानव मात्र के कल्याणार्थ कर्म करने के लिये सोलह ऐसे विधि-विधान बताए हैं कि जिनको व्यवहार में लाने से मनुष्य का जीवन शान्तिमय अथवा तनाव-रहित रह सकता है। वे सोलह विधि-विधान ऐसे हैं कि उनका पालन करने से मनुष्य 'सोलह कला सम्पूर्ण' बन सकता है। वह पूर्णिमा के चन्द्रमा से भी अधिक ज्योतिर्मान होकर शीतलतामय चाँदनी बिखेरता हुआ दूसरों को भी शान्ति और रस प्रदान कर सकता हैं। वे युक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. देही-निश्चय में स्थित होकर कर्म करो

मानसिक तनाव पैदा होने का एक कारण यह है कि मनुष्य अन्य मनुष्यों के साथ अपने वास्तविक 'सम्बन्ध' को नहीं जानता। सम्बन्ध न जानने के कारण एक तो उसमें स्नेह पैदा नहीं होता और दूसरे, वह अपने कर्त्तव्य को भी नहीं पहचानता। स्नेह न होने के कारण अथवा कर्त्तव्य-बोध न होने

के कारण मनुष्य में क्रोध, द्वेष इत्यादि उत्पन्न होता है जो ही वास्तव में तनाव के निमित्त बनते हैं। इस बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना अच्छा होगा।

'किशन चन्द' नाम वाला एक व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ रेलगाड़ी में देहली से ' सोजत रोड़' स्टेशन जा रहे थे। उनके पिता एक छोटे जमींदार थे और अलवर में रहते थे। उन्होंने पहले से ही अपने पिताजी को लिख दिया कि वह फलाँ दिन, फलाँ गाड़ी में देहली से रवाना होंगे और कि वे भी उसी गाड़ी में उनके साथ चलें। उनके पिता ' विशनचन्द' ने लिख दिया था कि वे चलेंगे।

किशन चन्द जी की शादी अभी थोड़े दिन पहले हुई थी और उनकी पत्नी घूँघट किया करती थीं। उन्होंने अपने ससुर विशन चन्द जी को अच्छी तरह देखा नहीं था; इसलिये वे उन्हें पूरी तरह पहचानती भी नहीं थी। विशनचन्द भी अपनी बहू को नहीं पहचानते थे।

जब गाड़ी अलवर स्टेशन पर पहुँची तो किशन चन्द जी उतर कर विशन चन्द जी को ढूँढ़ने के लिये गार्ड के डिब्बे की दिशा में गये थे परन्तु विशन चन्द जी इन्जन की तरफ से किशन चन्द को ढूँढ़ते आ रहे थे। इतने में गार्ड ने हरी झंडी दिखा दी और इन्जन ने भी सीटी बजा दी। विशन चन्द जी जिस डिब्बे के सामने पहुँचे थे, उसी में बैठने के लिए उन्होंने कोशिश की। दरवाजे के पास बैठी झाँक रही एक युवती से उन्होंने आवेदन किया कि वह उन्हें अन्दर आने दे। परन्तु वह युवती कड़क कर बोली - 'अरे बुद्ढे, तुम्हें दीखता नहीं । यहाँ भला कोई जगह रखी है? कहाँ, मेरे सिर

पर बैठेगा!! क्या तेरी अकल काम करती है या नहीं?'

बुढ्ढे विशन चन्द ने कहा- 'अरी, गाड़ी चलने को है। खड़ा हो जाने दे। यह औरत तो कोई जिद्दी है और बदजुबान है....।'

इस प्रकार दोनों एक-दूसरे को न पहचानने के कारण और सम्बन्ध को न जानने के कारण तनाव के वशीभूत होकर अनाप-शनाप बोल ही रहे थे कि गार्ड की सीटी सुनकर किशन चन्द जी दौड़ते हुए वापस अपने डिब्बे कि दरवाजे पर आ पहुँचे। देखते क्या हैं पिता जी और बहू में तनाव से बात हो रही है।

किशन चन्द जी बोले – 'अरी पगली, तुझे पता नहीं, यही तो तेरे ससुर है..... !' यह सुनते ही उनकी पत्नी एकदम चुप हो गईं और उसने घूँघट कर लिया। उनके ससुर भी-'वाह भई वाह'- ऐसा कहकर और कुछ नहीं बोले। बाप और बेटा दोनों ही गाड़ी में चढ़ आये और उस युवती ने दोनों को अदब से बैठने की जगह दे दी।

भला सोचिये तो सही कि इतना अन्तर कैसे पड़ गया! सम्बन्ध को जानने से ही तो कर्त्तव्य-बोध हुआ। सम्बन्ध का पता चलने से ही तो उसने क्रोध करना बन्द किया। परन्तु उन दोनों में तो दैहिक नाता था, इसलिये उन्हें एहसास हुआ; संसार में अन्य सभी में तो ऐसा दैहिक नाता होता ही नहीं; तब भला उनके लिये 'सम्बन्ध-बोध' का क्या अर्थ है और उनमें परस्पर स्नेह कैसे पेदा हो?

इसका उत्तर यह है कि वास्तव में तो हम एक परमपिता परमात्मा के अमर पुत्र हैं। अत: हम सभी आपस में भाई-भाई हैं। यह तो अमिट नाता

है। इस सम्बन्ध के कारण तो हम सभी का आपस में बहुत स्नेह होना चाहिए और हम सभी की एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति और सहयोग की भावना होनी चाहिए। यदि हम इस बात को स्मृति में रखते हुए व्यवहार करेंगे तो निश्चय ही तनाव पैदा नहीं होगा। तनाव तो (तन में आओ) तन में आने से पैदा होता है; जब हम आत्मा के स्वरूप, स्वधर्म औस स्वधाम की स्मृति में स्थित होंगे तो हममें शान्ति ही होगी क्योंकि आत्मा स्वयं तो शान्ति स्वरूप है, शान्ति ही उसका स्वधर्म है और उसके धाम में भी शान्ति ही है। परमपिता शिव परमात्मा ने समझाया हैं कि **यदि इस धारणा पर हमारा अटेन्शन** (Attention) **होगा तो हमें टैंशन नहीं** (Tension) **होगी। इस प्रकार, यदि स्वस्थिति में टिक कर हम हरेक परिस्थिति (पर-स्थिति) का सामना करेंगे तो हर समस्या का शान्ति से समाधान हो जायेगा।**

2. निराकारी, निर्विकारी और निरहंकारी स्थिति

परमपिता परमात्मा शिव ने समझाया है कि जब मनुष्य स्व-स्थिति में अर्थात् निराकारी आत्मा की स्थिति में नहीं टिका होता, तब उसमें कोई-न-कोई विकार पैदा हो जाता है। या तो उसकी दृष्टि वृत्ति ऐसी हो जाती है; उसमें 'काम' विकार उत्पन्न हो जाता है कि जिसे भोगने से मनुष्य में आत्मिक, नैतिक, मानसिक और शारीरिक दुर्बलता आती है और कमज़ोर व्यक्ति में तो शीघ्र ही क्रोध तथा तनाव पैदा हुआ ही करता है या कामी मनुष्य की वासना-पूर्ति में बाधा पड़ने पर भी उसमें क्रोध उत्पन्न होता है; उससे भी उसमें तनाव आता है। इसी प्रकार, देह-दृष्टि द्वारा ही माता-पुत्र, पति-पत्नी इत्यादि में मोह पैदा तथा स्थिर होता है। और उस मोह के कारण

मनुष्य में 'अपने और पराये का भाव', फिर अपनों के लिए पक्षपात, अन्याय करके भी उनका काम पहले करना, उनके लिए धन इकट्ठा करने के प्रयत्न में दूसरों के हित की परवाह न करना, उनको अपना मानकर, स्वयं को पुत्रों-पौत्रों, नाती-नातों वाला मानकर 'अभिमान' करना इत्यादि भाव मनुष्य में जागृत हो जाते हैं। इस प्रकार, मनुष्य निराकारी स्थिति में न रहने से निर्विकारी स्थिति में भी नहीं रहता और उसमें स्थित न होने से निरहंकारी भी नहीं होता और इस सभी का परिणाम तनाव तथा कलह-क्लेश ही होता है। अत: विश्रान्ति (State of relaxation) में रहने के लिये मनुष्य को चाहिए कि वह आत्मिक स्थिति अर्थात् निराकारी स्थिति में स्थित होकर कर्म करे।

3. कर्मेन्द्रियों का राजा बनकर कर्म करो

परमपिता परमात्मा शिव ने यह भी समझाया है कि जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों के अधीन हो जाता है, वह भी सुख की नींद नहीं सोता। जैसे शराबी शराब के बिना, अफीमची अफीम के बिना, धूम्रपान वाला सिग्रेट-बीड़ी के बिना परेशान हो जाता है, ऐसे ही इन्द्रियों के वशीभूत हुआ मनुष्य भी संयम में नहीं रहता। उसका मन और तन-दोनों ही मर्यादा को लांघ जाते हैं। वे दूसरों के अधिकारों पर भी आक्रमण कर बैठते हैं तथा सीमा का अतिक्रमण कर लेते हैं। उदाहरण के तौर पर जिस व्यक्ति में 'शब्द संयम' नहीं होगा वह वाक्-विलास के अधीन होकर हंसी-मजाक, अनाप-शनाप, अनियन्त्रित रीति से ही बोलता रहेगा। किसी से दिल-लगी की बातें करेगा तो अन्य किसी की आलोचना। एक की निंदा कर बैठेगा तो दूसरे का अपमान। वह

स्वादेन्द्रिय या स्वार्थ के वश होकर किसी से ईर्ष्या कर बैठेगा या तो बुरी दृष्टि के वश होकर कोई उल्टा काम। इस प्रकार, वह अपने लिये कोई-न-कोई उलझन, समस्या या मामला पैदा कर लेगा जिससे कि परेशानी और तनाव हो। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह 'कमलमुख' और 'कमलहस्त' बने, अर्थात् किसी भी कर्मेन्द्रिय के वशीभूत होकर विकारों की दलदल में न फंस जाये क्योंकि विकार ही टकराव और तनाव का कारण बनते हैं। परन्तु याद रहे कि कर्मेन्द्रियों पर शासन करने अर्थात् उनका राजा बनने के लिये मनुष्य को तन का राजा बनना होता है और मन का राजा बनने के लिए राजयोग रूप अनुशासन का अभ्यास करना पड़ता है। राजयोग के लिये आत्मिक स्मृति का तिलक लगाना पड़ता है, नियमों रूपी सिंहासन पर बैठना पड़ता है। ऐसा करने पर प्रकृति अपने सभी सुख-साधनों सहित मनुष्य की दासी हो जाती है। तब तनाव तो धरातल में धंस जाता है और कहीं भी नज़र नहीं आता है।

4. इच्छा-मात्रम्-अविद्या

यदि गहराई से देखा जाय तो मनुष्य की निरंकुश इच्छायें ही उसे परेशान करती हैं। किसी ने सच कहा है कि – 'यदि इच्छाएं घोड़ों रूप में होतीं तो केवल मूर्ख लोग ही उन पर बैठते।' चूँकि इच्छायें रुकती नहीं, काबू में भी नहीं आतीं, लगाम ही तोड़ देती हैं। तो आप सोचिये कि ऐसे सरपट एवं बेलगाम घोड़े पर तो केवल वह बैठेगा जिसने अपना सिर तुड़वाना हो। इच्छाओं को जितना भोगो, उतना ही इच्छायें और बढ़ती हैं। तभी तो कहावत है कि – 'आप भया बूढ़ा, तृष्णा भई जवान।' राजा

भरतृहरि ने भी कहा कि- 'तृष्णा न जीर्ण वयमेव जीर्णा,' अर्थात् तृष्णा कमज़ोर नहीं होती बल्कि उनको भोगते-भोगते हमारे दांत, कान, नेत्र तथा अन्य सभी इन्द्रियां जीर्ण-शीर्ण तथा कमजोर हो जाते हैं। अत: अपने आपको तृष्णा वा इच्छाओं के हवाले कर देना बिना ब्रेक वाली, चलती हुई मोटर गाड़ी में बैठ जाना हैं। उसकी तो अवश्य ही किसी से टक्कर होगी। तब क्या हादसा नहीं होगा? तब क्या तनाव या अशान्ति से हम बच जायेंगे?

मनुष्य की इच्छायें तो इतनी होती हैं जितने कि आसमान में तारे अथवा रेगिस्तान में रेत के कण। यों इच्छाओं को लोकैष्णा, वित्तैष्णा और पुत्रैष्णा- इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत बाँटा गया है परन्तु इनमें हरेक के अगण्य प्रकारान्तर हैं। उन सभी को पूर्ण करने की कोशिश करना अविद्या की बात करना हैं। जो सुख सन्तोष में है, वह और किसी में नहीं है। त्याग ही मनुष्य के भाग्य का निर्माता है; भोग तो स्वयं मनुष्य को भी भोग लेता है। अत: मनुष्य को चाहिए कि ऐसी अवस्था बनाए कि इच्छा ही उसके लिये अविद्या हो जाये।

निस्सन्देह, जब तक मनुष्य इस जान (शरीर) और जहान में है तब तक उसमें 'इच्छा' भी बनी रहती है। परन्तु 'योगी' और 'भोगी' की इच्छाओं में दिन-रात का अन्तर होता है। जबकि भोगी की इच्छायें सैकड़ों-हज़ारों होती हैं और वह सभी स्थूल सांसारिक विषयों ही के पीछे पगला हुआ भागता रहता है, योगी सादगी का जीवन व्यतीत करते हुए, सदाचार को अपनाकर अपने मनमें केवल यही इच्छा रखता है कि लोगों की अधिकाधिक सेवा करूँ और दिव्य बनूं तथा पवित्र बनूं। ऐसे व्यक्ति का न किसी से टकराव है, न ईर्ष्या।

कर्म-विधि

मनुष्य अपने ही कर्मों से सुख पाता है, अपने ही कर्मों से दु:ख। वह अपनी ही कृति से विश्रान्ति पाता है और अपनी ही कृति से तनाव से पीड़ित होता है। इसलिये कहा गया है कि यह संसार कर्म-प्रधान है, यह एक कर्म-क्षेत्र है; यहाँ जैसा कोई बोता है वैसा ही काटता भी है। यहाँ जिस-किसी ने भी कर्मेन्द्रियों का आधार लिया है, उसे कर्म तो करना ही पड़ेगा। और न सही तो शरीर निर्वाहार्थ तो कर्मों में प्रवृत होना ही पड़ेगा। अत: प्रश्न उठता है कि मनुष्य अपने जीवन में किन-किन मुख्य बातों को सामने रखे जिससे कि उसके पिछले कर्मों का रहा हुआ हिसाब-किताब भी चुकता हो जाये, पिछले कर्मों के द्वारा बने हुए अपवित्र संस्कार भी मिट जायें ताकि वर्तमान काल में भी उस द्वारा ऐसे कर्म न हों जो कि तनाव तथा दु:ख पैदा करने के निमित्त बनें?

मनुष्य के कर्मों की इस गुत्थी को सुलझाने के लिये परमात्मा शिव ने जो अनमोल कर्म-विधियां समझाई हैं, उनमें से जो चार मुख्य मालूम होती हैं, उनका हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं-

1. योग-युक्त होकर कर्म करना

परमपिता परमात्मा शिव की सबसे बड़ी शिक्षा यह हैं कि योग-युक्त होकर कर्म करो। 'योगस्थ कुरु कर्माणि'- गीता में भी ऐसे कहा गया है। परमात्मा की स्मृति में स्थित होकर कर्म करने वाला ही 'स्थितप्रज्ञ' अर्थात् 'अटल-निश्चय तथा स्थित कृति वाला' कहलाता है। उसमें ही दिव्य बुद्धि, जो कि कर्त्तव्य की पारखी होती है, का उदय होता है। योग में स्थित हुआ

मनुष्य ही सभी सांसारिक रसों के आकर्षणों से ऊपर उठकर प्रभु ही के प्रेम-रस, आत्म-रस तथा कर्मातीत स्थिति के परम रस में लवलीन रहता है। इसलिए वह कर्मों को उपराम, अनासक्त अथवा अलिप्त होकर करता है। ईश्वरीय स्मृति रूपी योग के कारण वह 'कर्म-योगी' कहलाता है। उसका हाथ भले ही कार्य में होता है, तो भी उसका चित भगवान् में होता है। अत: उसे न परिस्थितियां प्रभावित कर सकती हैं, न ही पदार्थ लुभायमान करके उसके नैतिक पथ से उसे फिसला सकते हैं। ऐसी स्थिति होने से वह एक मधुर, अलौकिक रस-युक्त स्थिति में समाया रहता हैं जिससे वह नीचे नहीं उतरना चाहता। इस स्थिति में टिके होने के कारण न उसकी किसी से खटपट होती है, न अनबन। न वह किसी परिस्थिति से खीजता है, न ही उस पर उत्तेजना का वार होता है। वह तो योग अवस्था रूपी एयरकण्डीशण्ड कोच (**वातानुकूलित डिब्बे**) में विश्रान्ति एवं शीलता में होता है। आगे के लिए भी उसके संस्कार सात्त्विक एवं दैवी बनते है। कलह-क्लेश करने का अब उसका स्वभाव ही नहीं रहता। अब वह ऐसा तपस्यामूर्त्त बन जाता है कि दूसरों का भी दु:ख हर लेने तथा अपनी स्थिति से उनमें खुशी भर देने वाला होता है।

2. अष्ट शक्तियों को धारण करके कर्म करना

मनुष्य की मनोस्थिति तभी बिगड़ती है जब वह आठ में से किसी-न-किसी एक शक्ति का पूरा या ठीक प्रयोग नहीं करता। उन आठ शक्तियों में एक है-निर्णय की शक्ति। मनुष्य सत्य-असत्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, ईश्वरीय-आसुरी, धर्म-अधर्म, मर्यादा- अमर्यादा या लाभकर एवं हानिकर

में जब स्पष्ट रूप से भेद का निर्णय नहीं कर पाता तो वह गलत कदम उठा लेता हैं अथवा निश्चयपूर्वक तथा आत्मविश्वास (Faith and Confidence) से कर्म नहीं कर सकता, बल्कि अस्थिर मन (Wavering or Whimsical Mind) से कार्य करता है। इससे उसे थकान अधिक होती है और सफलता कम मिलती है। इस हलचल की अवस्था में वह मन की एकान्तता और शान्ति खो बैठता है। (ii) दूसरी है-सहन शक्ति। जब मनुष्य को कोई व्यक्ति ऐसी बात कह देता है जो अपमान-सूचक, निन्दापरक या स्नेह की कमी की सूचक हो, तो भी उसके मन में उत्तेजना पैदा होती है। सहन शक्ति की कमी भी मनुष्य को दूसरों के प्रति भड़का, उकसा या चमका देती है और बात को बढ़ा देती है। इस शक्ति के बिना मनुष्य का जीवन दु:खी हो जाता है। (iii) अगर मनुष्य में सामना करने की शक्ति न हो तब भी वह छोटी-छोटी समस्या आने पर ही घबरा जाता है। वह हल्की-सी बात को भी भारी मान लेता हैं। कोई शरीर छोड़ दे तो रो-रोकर बेहाल हो जाता है। (iv) समाने की शक्ति भी बहुत ज़रूरी है। यदि किसी व्यक्ति में गम्भीरता नहीं हैं, दूसरों की बातों को अपने मन में समाने की सामर्थ्य नहीं है तथा उनकी कमियों को देखकर स्वयं विशाल और मर्यादा में रहने की शक्ति नहीं है, तो भी उसके विचारों में उछाल आने से झगड़ा पैदा होता है। (v) इसी प्रकार, परखने की शक्ति भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि मनुष्य यह नहीं परख सकता कि अमुक मनुष्य अच्छा है या बुरा, उससे संग या सम्बन्ध रखना चाहिये या नहीं तो वह धोखा खा बैठता है या कुसंग में फंस जाता है या यों ही कोई झंझट मोल ले बैठता है। यह

भी उसके दु:ख ही का कारण बन जाता है। (vi) फिर, यदि मनुष्य में समेटने की शक्ति न हो तो वह इतना विस्तार कर बैठता है कि स्वयं ही उससे तंग आ जाता है। कई मनुष्य बात करना शुरू करते हैं तो वे बोलते ही चले जाते हैं। उन्हें वार्त्ता को समेटना नहीं आता । संसार में बहुत से लोग ऐसे हैं जिनमें यह शक्ति नहीं है कि वे अपने संकल्पों को रोक सकें। परिणाम यह होता है कि उन्हें नींद भी नहीं आती। गोलियां या पिल्स (Pills) खाकर वह सोते हैं, तब भी वे ताज़गी अनुभव नहीं करते। (vii) इसी प्रकार जीवन में स्नेह और साथ देना भी बहुत ज़रूरी है। यदि कोई व्यक्ति किसी को सहयोग (Co-operation) नहीं देता तो दूसरे लोग उसके साथी नहीं बनते। वे भी उसे सहयोग नहीं देते। वे उससे सहानुभूति नहीं करते। अत: सहयोग की शक्ति न होने से भी परस्पर मन-मुटाव और शिकवा-शिकायत ही होता है। सहयोग देने से ही दूसरे मनुष्यों से हमें सहयोग मिलता है और उनसे हमारा सम्बन्ध भी अच्छा रहता है। (viii) इनके अलावा शरीर से और कर्म से स्वयं को अलग करने की सामर्थ्य भी ज़रूरी है। जैसे कछुआ कर्म करने के बाद, अपनी कर्मेन्द्रियों को सिकोड़ लेता है, वैसे ही मनुष्य को भी यह अभ्यास होना चाहिए कि वह कर्म से हटना चाहे, हट सके। वह शरीर को ढीला छोड़ सके और मन को भी किसी समय सभी कर्मों से अलग कर सके। तभी उसका मन पूर्ण निश्चिन्त अनुभव कर सकेगा। संसार में तनाव का एक मुख्य कारण यह भी है कि मनुष्य कभी भी मन को अपनी देह से तथा कर्म से पूर्णत: अलग (Withdraw) नहीं कर सकता। इस प्रकार, उसके मन में पूर्णत: आराम का अनुभव न होने

के कारण वह शीघ्र की तनाव में आ जाता है।

अब ऊपर हमने जो आठ शक्तियाँ बताई हैं, इन शक्तियों के आधार पर न केवल मनुष्य संसार में सफलता प्राप्त कर सकता है बल्कि उसका जीवन शान्ति से व्यतीत होता है तथा आगे के लिये भी वह अपने साथ अच्छे संस्कार ले जाता है।

3. सन्तुलन और आनन्द में स्थित होकर कर्म करें

परमात्मा शिव ने बताया है कि जैसा रचयिता हो, वैसी ही रचना होती है। अत: कर्म में प्रवृत होने से पहले मनुष्य को अपनी अवस्था देख लेनी चाहिए। उसे जाँच (Checking) कर लेनी चाहिए कि मेरी स्थिति में हर्ष, उल्लास और आनन्द है या नहीं। जैसे हवाई-जहाज़ को उडाने से पहले उसकी जाँच-पड़ताल की जाती है ताकि हादसा न हो जाये। रेलगाड़ी के चलने से पहले भी उसकी पड़ताल होती है। हर डिब्बे के नीचे भी एक मिस्त्री आकर हर पहिये को हथोड़े से बजाकर देखता है कि उससे टूटे हुए होने की आवाज़ तो नहीं आती। इसी प्रकार, हमें भी तो पहले यह देख लेना चाहिए कि शरीर रूपी गाड़ी चलाने से पहले हमारी स्थिति ठीक है। हवाई जहाज के चालकों (Drivers) का भी स्वास्थ्य देखा जाता है, उनकी डॉक्टरी परीक्षा होती है। उन्होंने शराब तो नहीं पी हुई-ऐसी बातें देखी जाती हैं। इसी प्रकार यदि यह न देखा जाये कि मनुष्य का ज्ञान-चक्षु ठीक काम करता है, उसका मन काम, मोह इत्यादि के नशे में तो नहीं है, अन्य किसी मनुष्य के साथ उसका स्वभाव टकराने से दुर्घटना हो सकती है। इसलिये बाबा ने कहा है कि सन्तुलन (Balance) तथा आनन्द (Bliss) की स्थिति

में हो। इसमें स्थित होकर कर्म करने से स्वयं को तनाव होने की बात तो छोड़ दीजिये, दूसरों को भी शान्ति मिलेगी। परन्तु यह स्थिति भी तभी बनी रह सकती है जब हम परमात्म के साथ अपना सम्बन्ध जानते हुए वर्तमान संगमयुग में अपने इस कर्त्तव्य को जानें कि हमें दूसरों को भी आनन्द का महादान देना है।

4. प्रेम और नियम -दोनों का पालन

मनुष्य के कर्म में त्रुटि होने का एक कारण यह भी हुआ करता है कि किसी के प्रति वह प्रेम में एकदम लुढ़क जाता है किसी अन्य के साथ प्रेम या स्नेह (Love) की बात छोड़कर नियम ही पर अड़ जाता है। अत: कहीं तो वह कहता है 'प्रेम में नेम नहीं' (Love Knows no Laws) - इस उक्ति का अक्षरश: व्यवहार करता है और कहीं कहता है कि 'नियम के बिना भी कोई जिन्दगी है? मैं नियम को किसी भी हालत में ढीला नहीं करूँगा।' वह स्वभाव से इतना कड़ा हो जाता है कि उसमें कोमलता ही नहीं रहती। इन दोनों का परिणाम ठीक नहीं निकलता। नियम तोड़कर, ईश्वरीय ज्ञान अथवा मर्यादा का जो उल्लंघन किया जाता है, वह भी दु:खान्तिक होता है और प्रेम को छोड़कर न्याय या नियम की जो रट लगाई जाती है, उसके परिणामस्वरूप भी मनुष्य शत्रु बन जाते हैं। ये दोनों ही परिणाम अशान्ति तथा तनाव पैदा करने वाले होते हैं। अत: कर्म करते समय हमें दोनों पहलुओं को ठीक रखना चाहिए। जीवन में सन्तुलन के बिना खराबी ही होती है। इसलिए किसी ने ठीक ही कहा है –

अति का भला न बोलना, अति की भली न चुप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धुप।।

5. भूल की स्वीकृति वा कर्म -सुधार

परमपिता परमात्मा शिव ने यह भी समझाया है कि यदि कोई भूल हो जाय तो उसे सच्चे मन से स्वीकार करना चाहिये। इससे मनुष्य के मन पर बोझ नहीं रहता; उसकी अन्तरात्मा उसे सताती नहीं और लोग भी उसके प्रति दयालु और क्षमावान बन जाते हैं। वे उसे सच्चा और सज्जन मानते हैं। इनसे उनके मन में तनाव भी पैदा नहीं होता। यदि हो भी तो शीघ्र ही मिट जाता है। पुनश्च, भूल को सच्चे मन से स्वीकार कर लेने से भूल भी हल्की हो जाती है। उस एक भूल के कारण अनेक झूठ नहीं बोलने पड़ते और इसलिये भूल आगे नहीं बढ़ती।

फिर, आगे के लिये भूल को मिटाने की प्रतिज्ञा करना, ताकि उस भूल की पुनरावृत्ति न हो- यही सर्वोत्तम पुरुषार्थ है। इस युक्ति को अपनाने से आगे कि लिये मनुष्य का अलबेलापन घट जाता है और कर्म सत्कर्म होने लगते हैं और इसलिए खुशी होती है कि मैं अच्छा बन रहा हूँ। तब भला तनाव की बात ही कहाँ रही?

अन्त में यह कहना भी जरूरी है कि मनुष्य को पूर्ण शान्ति तभी मिलती हैं जब उसके पूर्व जन्मों के विकर्म भी दग्ध हों। पूर्व जन्मों के विकर्म योगाभ्यास के बिना तथा उपरोक्त युक्तियों का प्रयोग किये बिना नहीं मिट सकते। अत: मनुष्य को चाहिए कि योग-युक्त बने ताकि इस जन्म में भी आनन्द प्राप्त करे तथा भविष्य में भी पूर्ण शान्ति प्राप्त करे।

कर्म विधान और उसका ज्ञान

मनुष्य स्वभाव से ही अल्पज्ञ है, जन्म-मरण में आने वाला है और स्वयं कर्म के आधीन है। अत: वह कर्म की गहन गति को यथा सत्य अपने द्वारा की गई खोज से नहीं जान सकता। वह कर्म-गति को ठीक-ठाक जानता होता तो अब भव-बन्धन, देह-बंधन तथा कर्म-बन्धन में जकड़ा हुआ न होता।

कर्म-बन्धन से छूटने का सत्य ज्ञान कर्मातीत परमपिता परमात्मा ही देते हैं। इसलिये ही उन्हें 'दयालू', 'कृपालु' या 'करुणा का सागर' कहा गया है। 'जो स्वयं मुक्त हैं' वही तो दूसरे को भी छुड़ा सकता है।

परमपिता परमात्मा शिव इस सृष्टि में तभी अवतरित होते हैं जब सभी मनुष्यात्मायें दु:ख और अशान्ति के पाशों में जकड़ी हुई होती हैं। तब वे कर्म का ज्ञान देकर पाशों में बंधी हुई उन विकारी आत्माओं को पाशों से निकलने के लिये विधि-विधान बताते हैं। इसलिये ही 'शिव' को 'पशुपतिनाथ' भी कहा जाता हैं। परमात्मा ने प्रजापिता ब्रह्मा के तन में अवतरित होकर कर्म-बन्धन से मुक्त होने की जो सोलह मुख्य युक्तियां बताई हैं, उनमें से चार का यहाँ संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है-

1. न्यासी अथवा ट्रस्टी बनकर कर्म करो

परमपिता परमात्मा शिव दु:ख और अशान्ति से छूटने के लिये कर्मों का सन्यास करने की शिक्षा नहीं देते, बल्कि वे कहते हैं कि कर्मों को मेरे अर्पण करो। उनका यह महोपदेश है कि सन्यासी नहीं, न्यासी (Trustee) बनो अर्थात् स्वयं को निमित्त अथवा ट्रस्टी मानकर शिवबाबा की आज्ञा से

तथा उन्हें ही मालिक समझकर कार्य करो। इस प्रकार अर्पण-बुद्धि होकर कर्म करने से मनुष्य का मन हल्का होता है। वह स्वयं को 'ईश्वरीय कार्य' के लिये एक साधन (Instrument) मात्र ही मानता है। इसलिये वह अपने तन, मन या धन को 'आसुरी' कार्य के लिये प्रयोग नहीं करता। चूँकि वह परमात्मा ही को निर्देशक या मालिक मानता है, इसलिये वह आलोचना की चिन्ता न करके केवल प्रभु-पसन्द कार्य करने के लिये ही सतत प्रयत्नशील रहता है। स्वयं को प्रभु ही का मानने के कारण वह निश्चिन्त रहता और हरेक परिस्थिति में अपना कल्याण ही समझता है। न तो लाभ होने पर उसे अभिमान आता है, न ही हानि होने पर वह दु:ख अनुभव करता है। वह कर्म को 'मान और शान' का साधन जान कर नहीं बल्कि उसे ईश्वराज्ञा का पालन रूप कर्त्तव्य जान कर करता है। उसे कोई चाह, तृष्णा या अपनी इच्छा नहीं रहती क्योंकि वह तो केवल निमित्त (Trustee) ही है। उससे वह 'निष्काम-बुद्धि' होकर कर्म करता है, अर्थात् इस कलियुगी, मृत-प्राय: संसार से लगाव-रहित होकर ही वह कर्म करता है। इसमें मेरेपन का भाव नहीं रहता । इस युक्ति के अनुसार आचरण करने से वह मोह, अहंकार तथा आलस्य से छूट जाता है। ऐसी अवस्था में उसके मन में तनाव पैदा होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

2. लोक-कल्याणार्थ कर्म

परमपिता परमात्मा शिव ने यह भी समझाया है कि कोई भी कार्य करो तो यह देखो कि उससे लोगों का कल्याण होगा या अकल्याण। सदा यह याद रखो कि हमारी दृष्टि, वृत्ति, या कृति-इन तीनों में से किसी के द्वारा

भी, किसी का भी अकल्याण न हो, यहां तक कि किसी के अकल्याण का संकल्प भी न करो। हमारे परमपिता विश्व-कल्याणी हैं, तभी तो उनका नाम 'शिव' है; हमारे कल्याणकारी कार्य का यह युग भी कल्याणकारी है, तभी तो इसे पुरूषोत्तम संगमयुग कहा गया है। अत: दु:ख-हर्त्ता एवं सुख-कर्त्ता परमात्मा की सन्तान होने से हमें यह तसल्ली होगी-किसी का भी बुरा नहीं किया है, न ही किसी का बुरा सोचा है।

भक्त लोग भी अपनी प्रार्थना में कहते हैं- सर्वे भवन्तु सुखिना.... अर्थात् हे प्रभु! 'सभी सुखी हों, सभी निरोगी हो और लेशमात्र भी दु:ख न हो।' परमपिता परमात्मा शिव ने भी कहा है कि 'न किसी को दु:ख दो और न किसी से दु:ख लो' क्योंकि 'दु:ख' देने वाला स्वयं भी दु:खी होकर मरता है।' अत: हमें चाहिये कि हम अपने चेहरे से, अपने वचनों से तथा अपने हाथों से सभी रूहों को 'राहत' ही दें, सभी को खुशी का खजाना बांटें, सभी को सुख की राह दिखायें ।किसी को कभी भी हम सतायें नहीं ताकि किसी का भी हमें श्राप न मिले; कोई भी हमारे कर्मों के कारण आह न भरे। हम ऐसे वचन बोलें कि सुनने वाले समझें कि हमारे मुख से 'लाल' अथवा 'रत्न' निकल रहे हैं अथवा फूल झड़ रहे हैं। हम न तो पर-चिन्तन करके अपना पतन अथवा अकल्याण करें, न ही इधर की बात उधर कर मन्थरा-जैसा धन्धा करके लोगों के घर बर्बाद करें। जब हमारी भावना, हमारी कृति और हमारी स्थिति 'शिव-संकल्प' वाली अर्थात् कल्याणकारी होगी तो निश्चय ही हमारे में तनाव, उत्तेजना, अशांति इत्यादि का उद्रेक होगा ही नहीं।

जब हमारे कर्मों के पीछे सेवा-भाव ही निहित होगा तो हमारा किसी से भला मन-तुटाव क्यों होगा। जब हम सभी के 'शुभ चिन्तक' अथवा हितैषी ही होंगे तो हमें किसी के प्रति घृणा क्यों होगी और हमें कोई चिन्ता क्यों होगी? हम तो सभी के आशीर्वाद के पात्र होंगे, जिससे हमें शान्ति ही मिलेगी।

3. 'न्यारा और प्यारा' होकर कर्म कार्य

अब तो परमपिता परमात्मा शिव ने हमें यह भी समझा दिया है कि अब कलियुग के अन्त और सतयुग के आरम्भ का संगम समय है। सभी तत्व तमोप्रधान हो चुके हैं। सभी वस्तुएँ निस्सार हैं। सभी किसी-न-किसी दु:ख, चिन्ता, रोग या शोक से पीड़ित हैं। सभी में कई आसुरी गुण हैं। सभी विकर्मो के बन्धन में जकड़े हुए हैं। गोया यहाँ सत्यता का और सच्चे सुख का सार नहीं है। तब भला इससे मन को क्या लगाना? अत: परमपिता परमात्मा कहते हैं कि अब इससे उपराम होकर तथा न्यारे होकर कर्म करो। जब अपनी यह देह भी हमने शिवबाबा के अर्पण कर दी है तो बाकी हमारे पास अपना है भी क्या? अब इस देह और दुनिया की स्मृति और आसक्ति को छोड़कर, हमें एक शिवबाबा ही से सर्व सम्बन्ध जोड़ने चाहिये, उस ही से प्रीति जोड़नी चाहिये। इस संसार में तब भला रखा ही क्या है? यह तो चार दिन का खेल बाकी है। यहां के तो सभी प्राणी असमर्थ हैं। अत: मन का मीत परमपिता परमात्मा को बनाकर कर्म करने से निश्चय ही कर्मों में सामर्थ्य भी आयेगी और अन्य आत्माओं से हमारा कर्मों का खाता भी नहीं बनेगा। फिर, न्यारे बनने के फलस्वरूप हदों से निकल कर बेहद में

आने के परिणामस्वरूप हम सभी के प्यारे भी होंगे और जहाँ निस्स्वार्थ प्यार हो वहाँ अनबन कैसी? वहाँ तो जीवन सुखी ही होता है।

अत: हमें यही समझ कर कर्म करना चाहिये कि हम तो अब यहाँ दो दिन के मेहमान हैं। यह माया की दुनिया तो बेगानी दुनिया है। हमारा तो एक शिवबाबा ही है। हम तो परदेशी हैं। इसी के साथ-साथ हमें यह भी याद रखना चाहिए कि सभी मनुष्यात्माएँ तो परमपिता परमात्मा के वत्स होने के नाते सभी हमारे भाई हैं। हमारा किसी से वैर-विरोध नहीं। हमारी तो देह भी अब 'अपनी' नहीं क्योंकि हम इसे परमात्मा के अर्पण कर चुके हैं तथा यह भी अपवित्रता से पैदा हुई चीज़ है। जब देह से ही हमारा ममत्व नहीं तो हमारा अन्य किसी से लगाव होगा? इस प्रकार भाव से कर्म करने वाले अनासक्त योगी को अशांति क्यों होगी?

4. विकर्म करने नहीं हैं, दग्ध करने हैं

परमात्मा शिव ने हमें यह भी बताया है कि मनुष्यात्मा ने पिछले अनेकानेक जन्मों में देहाभिमान तथा अज्ञान के कारण बहुत ही विकर्म किये हैं। उन विकर्मो के कारण ही आज मनुष्य को किसी-न-किसी प्रकार का दु:ख या तनाव है। अब प्रश्न उठता है कि उन विकर्मों रूपी काँटों के महावन को कैसे समाप्त किया जाए? यदि उनको भोग करके समाप्त करने लगें तब तो उनका अन्त होना ही मुश्किल हैं और शायद उनमें और भी वृद्धि न हो जाये। तब क्या किया जाये?

परमपिता परमात्मा शिव ने हमें यह समझाया है कि इन विकर्मों को योगाग्नि द्वारा ही दग्ध किया जा सकता है। अत: यदि हमें अशांति, चिन्ता,

तनाव, दुर्भाग्य इत्यादि से सदा के लिए छुटकारा पाना है तो हमें योगाग्नि को प्रज्वलित करना होगा। उसमें ही इन विकर्मों को भस्मीभूत करना होगा।

पुनश्च, योग में स्थित होने से आगे के लिये भी कर्म 'अकर्म' ही बनेंगे, वे 'विकर्म' नहीं बनेंगे क्योंकि 'विकर्म' तो विकार-युक्त कर्मों का नाम है और विकर्मों की उत्पत्ति देहाभिमान से होती है। देह अभिमान देह के भाव में रहने से तथा आत्मा को भूलने से होता है और इसकी निवृति देह के भाव को मिटाने तथा आत्मिक स्थिति में होने से हो सकती हैं और इसी का नाम ही तो 'योग' है। तो निष्कर्ष यह है कि योग के बिना **'सर्व दु:ख निवृति'** तथा **'सर्वसुख प्राप्ति'** नहीं हो सकती। योग के बिना उसकी अशान्ति के कारण पूर्णत: नहीं मिट सकते। योग के बिना उसे अतीन्द्रिय सुख अथवा आनन्द का परम लाभ नहीं हो सकता। योग के बिना केवल दो ही अवस्थायें होती हैं-भोग या वियोग। ये दोनो ही दु:खान्त या दु:खोत्पादक हैं। इनसे शान्ति की आशा रखना निराशा का आह्वान करना है। इसलिये परमपिता परमात्मा कहते हैं – 'वत्सो, योगी बनो, योग-युक्त होकर कर्म करो।' परन्तु योग में स्थिति होने के लिये नियमों का पालन करना ज़रूरी है और नियमों का पालन करना ही 'पवित्र बनना' है। मनुष्य पवित्र एवं योग-युक्त बनने का पुरुषार्थ तभी करता है जब उसके मन में यह दृढ़ संकल्प हो कि मैंने विकर्म नहीं करने हैं बल्कि पिछले विकर्म भी दग्ध करने हैं। इस व्रत वाला शूरवीर व्यक्ति तनाव-शनाव के चक्कर में नहीं आता। वह माया और प्रभु दोनों को पहचानता है और माया पर विजय प्राप्त करने वाला बनता है।

कर्म करें तो कैसे करें?

कुछ लोग पूछते हैं कि यह संसार बना क्यों है? हमारा विचार है कि यह प्रश्न प्राय: वे ही किया करते हैं जिन्हें संसार में किसी-न-किसी प्रकार का दु:ख है अथवा हो चुका है। जो लोग स्वास्थ्य, यौवन, धन-धान्य एवं सम्मान सम्पन्न हैं, उन्हें यह प्रश्न करते प्राय: नहीं सुना गया। वे तो अपने सुख लूटने में ही मस्त हैं। परन्तु उन्हें भी यह मालूम होना चाहिए कि अब जिस प्रकार के कर्म वे कर रहे हैं, अपने लिए वे तदानुसार ही दुनिया बना रहे हैं। जिन लोगों का यह प्रश्न है कि यह दुनिया क्यों बनाई गई और ऐसी क्यों बनाई गई, उनसे भी हमारा निवेदन है कि वे इस बात पर गम्भीरता से विचार करें कि कम-से-कम उनके सम्पर्क तथा सम्बन्ध में आने वाली जो छोटी-सी दुनिया है, उतनी तो उन्होंने स्वयं ही अपने कर्मों से बनाई है, और आगे के लिये भी वे वर्तमान कर्मों द्वारा अपने सुख या दु:ख के भोग के लिये अपनी छोटी-सी दुनिया रच रहे हैं। हमारे इस कथन का भाव यही है कि हम सभी जो अपने-अपने कर्म करते हैं, उससे हममें से हरेक अपने लिए ऐसा कर्म खाता बना लेता हैं कि जिसे भोगने के लिये वह अपने मित्रों, सम्बन्धियों, शत्रुओं इत्यादि की छोटी-सी दुनिया की नींव रखता है। यह बात ठीक वैसे ही है जैसे कि एक-एक प्लाट पर हरेक माली अपने हाथों से बीज बोकर भविष्य में अपने लिए वृक्ष लगा दे तो कई प्लाट मिलाकर एक बहुत बड़ा उपवन बन जाता है। हरेक मनुष्य द्वारा भी कर्मों के रूप में भविष्य के बीज बोये जाने से यह एक बड़ा उपवन अथवा वन रूप संसार बन जाता है। इस प्रकार अनादि काल से हम मनुष्यात्माएं इसमें बोती और फल पाती चली आ रही हैं।

अत: मेरे विचार में प्रश्न यह नहीं होना चाहिए कि यह संसार किसने बनाया है और क्यों बनाया है? यह संसार तो जैसा है, वैसा हम सभी ने तथा हमारे पूर्वजों ने अपने ही कर्मों द्वारा मिलकर बनाया है। प्रश्न यह होना चाहिए कि अब हम पहले किये गये कर्मों के फलस्वरूप होने वाले दु:ख से छूटें कैसे तथा वर्तमान काल में भी कैसे कर्म करें कि आगे चलकर यह भी हमारे लिये दु:खोत्पादक न हों। जो लोग आज सुखभोग में लगे हुए हैं और ऐसा प्रश्न नहीं करते, उनसे भी हमारा निवेदन है कि जिसे वे सुख माने बैठे हैं वह तो दुखान्त सुख है, वह सम्पूर्ण, सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सर्वांगीण नहीं है। फिर उसमें तन और मन का सुख है भी, तो भी उसमें एक बहुत भारी कमी यह है कि उसमें आत्मा का सुख भी नहीं है जिससे आत्मा प्रफुल्लित हो जाये। अत: जिसे वे सुख मान रहे हैं, वह तो अंग-भंग है, क्षण-भंगुर है, ऊपरी-ऊपरी है और काया तथा काल के अन्तर्गत है। अत: उनको हम कहना चाहते हैं कि अपने कर्मों द्वारा वे भी सम्पूर्ण निरन्तर सात्विक एवं सर्वतोमुखी सुख की दुनिया रच सकते तथा दु:ख का मूलोच्छेदन कर सकते हैं।

नीति और रीति

उसके लिये परमपिता परमात्मा शिव ने हमें कर्म करने की जो नीति और रीति बताई है, उसे यदि जानकर हम आचरण में लायें तो हमारे कर्म हमारे लिये इस जन्म में सन्तुष्टि और खुशी का साधन बन सकते हैं और हमारे इस जन्म के सार्थक एवं सफल होने का कारण बन सकते हैं। यदि हम इस नीति और रीति को अथवा प्रणाली और परिणाम को न जानकर

कर्म करते रहेंगे तो हमारा परिणाम भी 'तुक्के शाह' अथवा 'भुलक्कड़' वाला हो जायेगा जिससे कि हम गलती पर गलती करते चले जायेंगे।

अत: हम लोगों के लिये जो कि काले कर्मों की कीचड़ से निकलना चाहते है तथा अब पिछले कर्मों की भूल और शूल से छूटना चाहते हैं, कुछ थोड़ी-सी कर्म-रेखा उनके आगे प्रशस्त करते हैं।

1. श्रीमत के अनुसार कर्म

संसार में कई प्रकार के मत हैं। एक तो मनुष्य का अपना मन जैसा कहता है, वैसा ही वह करता है। ऐसी मत को 'मन-मत' कहा जाता है। मनुष्य का अपना मन कभी ठीक भी कहता है, कभी गलत भी। मनुष्य अपूर्ण है; अत: उसका मन सर्व प्रकार की त्रुटियों से रहित मत तो उसे दे नहीं सकता। मनुष्य तो अल्पज्ञ है, वह एक संस्कृति -विशेष, देश-विशेष, परिस्थिति-विशेष, जाति-विशेष, वातावारण-विशेष तथा कुटुम्ब-विशेष की उपज है। अत: उसके विचार इन संकीर्णताओं से थोड़े-बहुत अवश्य ही रंगे हुए होते हैं। वे इन हदों में बंधे हुए होते हैं। वे पूर्णत: पक्षपात-रहित नहीं होते। हरेक मनुष्य के अपने भी कुछ संस्कार होते हैं, उसकी अपनी भी कमियाँ, कमज़ोरियाँ, विकार और विकृतियाँ तथा हालात और परिस्थितियाँ होती हैं। अत: मन-मत मनुष्य को एक ऐसे मार्ग पर चलाने में असमर्थ है जो मार्ग उसे सदाकाल के लिए दु:ख से निकाल दे। तनाव, अशांति तथा आधि-व्याधि से छड़ा दे।

मन-मत के अतिरक्ति दोस्तों, सम्बन्धियों इत्यादि से भी मनुष्य सलाह किया करता है। उनके मत को 'परमत' कहते हैं। दूसरे लोग मनुष्य की

परिस्थितियों का पूरा माप-तोल तो कर नहीं सकते, न ही उस मनुष्य की योग्यताओं तथा कमजोरियों को पूरी तरह जानते हैं। फिर उनके अपने भी स्वार्थ, संस्कार, हिसाब-किताब, मानसिक अवस्था इत्यादि होते हैं । उनके 'मन-मत' के अन्तर्गत गिनाई गई कमियां या दोष तो होते ही हैं। अत: पर-मत भी मनुष्य को दु:ख-सागर से निकाल कर सर्वकालीन सुख के तट पर पहुंचाने में समर्थ नहीं होती। आखिर मन-मत और पर-मत दोनों **मनुष्य-मत** ही तो हैं और उक्ति प्रसिद्ध है कि 'मनुष्य गलतियों का पुतला है।'

शास्त्र-मत और **गुरु-मत** में भी वे न्यूनताएँ पाई जाती हैं जो कि मनुष्य मत में होती हैं। कहा तो यही जाता हैं कि अमुक-अमुक ग्रंथों में लिखा हुआ ज्ञान परमात्मा द्वारा दिया हुआ है। परन्तु यदि सच्चाई की दृष्टि से देखा जाये तो वह भी प्राय: मनुष्यों द्वारा ही दिया हुआ है। यद्यपि वे मनुष्य आजकल के तमोप्रधान मनुष्यों की अपेक्षा बहुत अच्छे थे। मनुष्यकृत होने के कारण ही शास्त्रकर्त्ताओं के नाम उन-उन ग्रथों के साथ 'मनु' का नाम, रामायण के साथ 'बाल्मीकि' का नाम, दर्शनों के साथ उनके कर्त्ता अथवा संकलन-कर्त्ता का नाम, वेदों के साथ भी अग्नि-आदित्या इत्यादि के नाम लिये जाते हैं। अच्छा, यदि मान भी लिया जाय कि कोई शास्त्र, आगम या निगम परमात्मा द्वारा दिया हुआ परम पवित्र ज्ञान है, तो भी उसे लिया तो किसी-न-किसी मनुष्य ही ने है। अत: वह उसे जितना और जैसा समझ पाया है। उतना तथा वैसा ही तो उसने लिखा है। गोया उस पर भी उसके विचार, संस्कार, दृष्टिकोण (Subjectivity) इत्यादि की पुट तो लगी हुई है। इस पर भी यदि कहा जाये कि ऐसा भी नहीं है, बल्कि फलां शास्त्र में

तो साक्षात् परमात्मा ही के शब्द, वाक्यांश, वाक्य, कामा, (अर्धविराम), फुल स्टाप (विराम) है तो प्रश्न उठेगा कि उसका अर्थ समझने वालों ने तो यथा योग्य, यथा संस्कार, यथा भावना ही अर्थ लिया है; तभी तो आज संसार में एक ही शास्त्र के अनेक भाज्य, टीकाएँ, व वृत्तियाँ (Gloss), व्याख्याएँ इत्यादि उपलब्ध हैं और उन-उन पर आधारित अनेकानेक मत-मतान्तर हैं। तब भी अन्ततोगत्वा वे हैं तो मनुष्य मत ही? अभी-अभी, हमारे ही जीवन काल में स्वयं परमात्मा ने आकर तो वह ज्ञान हमें नहीं दिया है? परमात्मा ने तो क्या, ज्ञान शिरोमणि ब्रह्मा अथवा सरस्वती ने या 'आदम' (Adam) और 'हव्वा' (Eve) ने भी तो नहीं दिया है। तब हम किसको सत्य मानें और आजकल की परिस्थितियों में उनके अनुसार कैसे चलें-यह हमें कौन बतायेगा? हम कैसे कर्म करें-इस प्रश्न के उत्तर में क्या उत्तर है?

ऊपर हमने अनेक प्रकार के मतों की इसलिये व्याख्या की है कि पहले तो हम यह बात भली-भाँति समझ लें कि उनसे हमारा पूर्ण कल्याण होने वाला नहीं है। स्वयं गीता को लीजिये। आद्य शंकराचार्य जी तो उसे 'निवृत्तिपरक शास्त्र' मानते हैं, जबकि लोकमान्य तिलक उसे 'कर्मयोग शास्त्र' मानते है। फिर, शंकराचार्य, निम्बकाचार्य इत्यादि की व्याख्या अलग है। तब यदि आप गीता को 'भगवान' के वाक्य भी मान लें, तो भी उसका कौन-सा अर्थ, या दृष्टिकोण मानेंगे? उसको वैसा ही मानने के लिये आपके पास सर्व-मान्य मानदण्ड कौन-से हैं?

अत: इन सभी कारणों से हम कहते हैं कि हम जन्म-जन्मान्तर मनुष्य मत पर ही चलते आये हैं, यदि ये शास्त्र या इनकी व्याख्याएँ सब ईश्वरीय मत के अनुसार होतीं तो अब तक हमारा कल्याण हो गया होता और आज

संसार की स्थिति भी स्वर्गमय अथवा सुख-शान्तिमय होती। परन्तु हम तो देखते हैं कि रोग-शोक इत्यादि संसार में वैसे ही चले आ रहे हैं, बल्कि अधिक ही हुए हैं, इसलिये अब हमें निश्चयात्मक बुद्धि से इन सभी के बजाय एक परमात्मा ही का सहारा लेने की ज़रूरत है। परमात्मा ही ज्ञान के सागर हैं, आनन्द के सागर हैं, प्रेम के सागर है और पतित-पावन तथा दु:खहर्त्ता और सुखकर्त्ता हैं। अत: केवल उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान ही मनुष्य को 'पतित से पावन', 'मनुष्य से देवता' अथवा 'नर से नारायण' बनाने वाला और सुख-शान्ति सम्पन्न बनाने वाला हैं। हमें उस एक ही की मत पर चलना चाहिये। उसके मत को ही 'श्री-मत' कहा जाता हैं।

तो हमें चाहिये कि हम 'श्री-मत' ही के अनुसार अपने कर्म करें। परमात्मा ही हम में से हरेक के अनेक जन्मों की जन्म पत्री अर्थात् कर्म-खाता जानते हैं। वे ही योग्यताओं तथा कमियों से परिचित हैं। उन द्वारा दिखाया हुआ मार्ग ही हमारे लिये श्रेयस्कर है। अत: मेरी यह मान्यता है कि उन्होंने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा जो ज्ञान-मुरलियाँ हमें सुनाई हैं, उनका हम प्रतिदिन अध्ययन करें। उनके आदेश-निर्देश द्वारा खोले गये ज्ञान एवं योग-केन्द्रों पर हम प्रतिदिन जायें और मुरलियों की धारणा करें। उनकी ज्ञान मुरलियों में हमारी सभी समस्याओं का हल है, हमारे लिये पूरी कर्म संहिता दी गई है; उसमें साक्षात् उन्हीं के महावाक्य हैं जो कि हमें कर्त्तव्य बोध कराते हैं। स्वयं प्रजापिता ब्रह्मा ने भी उन्हीं में लिखे महावाक्यों के अनुसार ही अपना जीवन महान् बनाया उन्हीं को कर्मों के लिये आदर्श मानकर हम भी कर्म करें। कर्म करें तो ऐसा करें। इससे न तो कर्म में गलती रहेगी, न चिन्ता होगी, न ही तनाव।

पवित्र प्रवृत्ति

कर्म-गति के ज्ञाता परमपिता परमात्मा शिव ने हमें अपनी प्रवृत्ति को पवित्र बनाने के अनमोल साधन बताये हैं। हम प्रतिदिन 'ज्ञान-मुरली' में अपने संस्कारों को पावन बनाने तथा अनेक कर्मों को महान् बनाने की युक्तियाँ सीखते हैं। जन्म-जन्मान्तर से हम माया अथवा विकारों की जिन जंजीरों में जकड़े आये हैं, अब उन्हें तोड़कर उनसे आज़ाद होने का ढंग अब हमें परमपिता परमात्मा शिव की कृपा से ज्ञात हुआ है, तभी तो अब हम अन्धकार से निकलकर प्रकाश, अशान्ति से बचकर शान्ति के मार्ग पर दिनों-दिन आगे बढ़ रहे हैं।

जैसा लक्ष्य वैसा लक्षण, जैसा चित्र वैसा चरित्र

अपनी प्रवृत्ति को पवित्र बनाने के लिये पहले तो परमपिता परमात्मा शिव ने पवित्र लक्ष्य दिया है। पवित्र लक्ष्य को सामने रखने से ही पवित्र लक्षण भी आते हैं। बाबा ने हमारे सामने सर्वगुण सम्पन्न, सोलह कला सम्पूर्ण, सम्पूर्ण निर्विकारी, उत्तम मर्यादा युक्त, सम्पूर्ण अहिंसक बनने का लक्ष्य रखा है। इससे पहले हम यह माने बैठे थे कि इस संसार में थोड़े-बहुत विकारों या अवगुणों का होना स्वाभाविक है। हम संसार में जितने भी नर-नारियों को देखते है, उनमें कोई-न-कोई अवगुण और किसी-न-किसी मात्रा में विकार हैं। अत: हम यह माने बैठे थे कि गलतियाँ तो हरेक मनुष्य से होती ही हैं, तब हमें यह मालूम नहीं था कि हमने जिस युग के नर-नारियों को देखकर अपनी ऐसी धारणा बनाई हुई हैं वह तो कलियुग है जो कि ऐसे नर-नारियों के कारण ही निकृष्ट माना जाता है। मनुष्य की यह स्टेज

(Stage) अथवा स्थिति तो पतन की स्थिति है। जिस मनुष्य को 'सभी प्राणियों में श्रेष्ठ' या 'अशरफ उल मखलूक्रात' (Best of the Creation) कहा जाता है, वह मनुष्य कोई और था। वह उस काल का मनुष्य था जिसे 'कृतयुग', 'देवयुग' अथवा 'सतयुग' कहा जाता है। आज का मनुष्य 'देवता' पद से तो गिरा हुआ है ही, यह मनुष्यता से गिर चुका है क्योंकि यह तो हिंसक पशुओं की तरह हिंसा वृत्ति वाला है, शीघ्र ही उत्तेजित हो जाता है और केवल ऐन्द्रिय स्तर पर ही जीवन जी रहा है। परमपिता परमात्मा शिव ने हमारे सामने सम्पूर्ण दिव्य नर और नारी का चित्र खींचा है जिन्हें कि भारत की संस्कृति में 'श्री लक्ष्मी-नारायण' अथवा 'देवता' (Man god) और 'देवी' (Woman goddess) कहा गया है। उस पूर्णत: पवित्र प्रवृत्ति की स्थिति तक पहुँचने के लिये पुरुषार्थी जीवन का आदर्श भी परमपिता शिव ने सृष्टि के आदि पिता 'ब्रह्मा' और आदि माता 'जगदम्बा' के नाम-रूप से हमारे समक्ष रखा है। अत: अब जबकि उच्च कर्मों का चित्र हमारे सामने है तब हमारे लिये चरित्र भी बनाना सहज है। 'जैसा लक्ष्य वैसा लक्षण' और 'जैसा चित्र वैसा चरित्र'-यह फार्मूला हमारे सामने रखते हुए परमपिता परमात्मा शिव ने हमारे चलने के लिये कर्मों की जो लकीर लगाई है, उसके मार्ग-चिन्ह निम्नलिखित हैं :-

यह सृष्टि एक रंगशाला है; हम इसके एक्टर हैं

परमपिता परमात्मा शिव ने हमें समझाया है कि मनुष्य-सृष्टि एक रंगमंच है। हम मनुष्यात्मायें परमधाम अथवा ब्रह्मलोक से इस वृहद नाटक-मंच पर अपना-अपना पार्ट अदा करने के लिये आई हैं। अपने पार्ट ही के

अनुसार हम जन्म-जन्मान्तर शरीर रूपी वस्त्र धारण करते हैं। जैसे किसी नाटक में राजा का पार्ट अदा करने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क में यह सत्य तो अलुप्त रीति से रहता ही है कि वास्तव में वह राजा नहीं बल्कि अमूक साधारण ही व्यक्ति हैं और केवल इस पार्ट में ही वह राजा बना हुआ है और अमुक अभिनेत्री (Actress) उसकी रानी बनी हुई है। अत: पार्ट पूरा होते ही वह पहले की तरह ही हो जाता है। नाटक में होने वाली जीत-हार को अभिनय अथवा खेल-मात्र ही मानते हैं। नाटक में आने वाली चिन्ताजनक एवं भयानक स्थितियों से वह अपने जीवन को दु:खी नहीं बना लेता। ठीक इसी प्रकार, परमपिता परमात्मा शिव ने हमें यह शिक्षा दी है कि हमें भी इस सृष्टि रूपी विराट एवं अनादि नाटक में स्वयं को एक एक्टर (Actor) मानते हुए इसमें आने वाली सुख-दु:ख की परिस्थितियों से अपने जीवन को लिपायमान नहीं कर देना चाहिये बल्कि इन्हें खेल ही का एक भाग मान कर इनसे न्यारे हो स्वस्थिति में रहना चाहिये। स्वरूप में टिके रहने की यह एक अच्छी युक्ति है। **दु:ख एवं अशान्ति से छूटने परन्तु फिर कर्म को करते रहेने का यह एक ऐसा समन्यामक तरीका है जो कि अद्वितीय** है। इस दृष्टिकोण को अपना लेने से मनुष्य में 'अकर्मण्यता का दोष' भी नहीं आता, वह आलस्य एवं प्रमाद के वशीभूत भी नहीं होता, वह अर्जुन की तरह कर्म रूपी धनुष बाण को भी छोड़कर 'किंकर्त्तव्य विमूढ़' (What to do and what not to do?) के मोह और विषाद की उलझन में नहीं आता और विकर्म करके दु:ख का भागी भी नहीं बनता, बल्कि वह एक नाटक के पात्र की न्यायीं अपने कृत्य को बड़ी खूबी से, बड़ी कला से और

कौशल से करता है। परन्तु वह उसे 'नाटकीय' ढंग से ही करता है अर्थात् वह हाव-भाव बनाता तो है परन्तु उसका वास्तविक स्वभाव जैसा है वह वैसा ही रहता है।

नाटक के इस अनुकरणीय उदाहरण में दूसरी भी एक बात यह है कि जैसे नाटक में हरेक अभिनेता अथवा अभिनेत्री योग्यता के अनुसार एक बने-बनाये कथानक (Story) के अनुसार अपना-अपना अभिनय करते हैं, वैसे ही इस वृहद सृष्टि नाटक में हम कल्प-कल्पान्तर अपनी-अपनी सामर्थ्य एवं योग्यता के अनुसार जो-जो पार्ट करते हैं, वही-वही अब हम हर कल्प पुनः-पुनः पुनरावृत करते हैं। उस बनी हुई स्टोरी (Story) को ही हम अदा करते हैं। अतः अब हमारे जीवन मे जो कुछ हुआ है, वह पूर्व कल्प में भी हुआ था क्योंकि स्टोरी तो वही है, हम आत्माएँ रूपी ऐक्टर भी वही हैं, सृष्टि भी वही है और समय भी वही आकर पहुँचा है। अतः हमारे सामने चाहे कैसी भी विषम अथवा विकट परिस्थिति आये, हमें घबराना नहीं चाहिये बल्कि 'ड्रामा' (This is there in this World Dramb) -ऐसा कह कर स्वरूप स्थित हो जाना चाहिये। हमारे अपने कर्मों के अनुसार ही तो यह ड्रामा बना है। अतः हमारे ही किये हुए कर्मों का खाता जब सामने आता है तो भयान्वित होने की क्या बात है; वह पार्ट भी कर्म और परिणाम की श्रृंखला में एक कड़ी ही तो है जो कि अगले क्षण में दूसरे दृश्य को स्थान देगी! यह वर्त्तमान दृश्य तो सदा रहना ही नहीं है। अतः 'भावी', ड्रामा, या 'यह तो बनी-बनाई ही बन रही है'- ऐसा सोच कर हमें अपनी शान्ति को भंग नहीं होने देना चाहिये।

पुनश्च, ड्रामा में हरेक का अपना-अपना पार्ट होता है। कोई तन्त्री बनता है तो कोई मन्त्री, कोई नेता बनता है तो कोई अभियन्ता (Controller) । इसमें किसी से ईर्ष्या करने की गुँजायश नहीं है क्योंकि हरेक को अपना-अपना पार्ट अदा करना होता है। ड्रामा में विविधता (Variety) का होना तो स्वाभाविक ही है। उसके बिना तो उसमें न रोचकता रहेगी, न दृश्यान्तर होंगे और न ही रूपान्तर। अत: विभिन्नता एवं स्थिति परिवर्तन ही तो ड्रामा है जिसमें हास्य रस, वीर रस, शान्त रस, सभी रस चाहिये होते हैं। वर्ना तो वह शुष्क, नीरस, कला-हीन तथा 'बोर' (Bore) करने वाली एक वृति हो जायेगी। अत: यह बात जानकर सचमुच ही किसी के पार्ट से ईर्ष्या करना खाहमखाह स्वयं को चिता पर डालना है। 'रीस' (ईर्ष्या) करने की बजाय 'रेस' (race, स्पर्धा) करना ज्ञानोचित है। उससे हमें न अशान्ति होगी, न तनाव ही पैदा होगा बल्कि हमारी उन्नति हो सकती है।

अब जाना है और फिर सतयुगी सृष्टि में आना है

कोई भी कर्म यदि ठीक समय पर और उपयुक्त अवसर पर किया जाता है तो ठीक होता है। आजकल तो मनुष्य घड़ी और कलैण्डर का खूब प्रयोग करते हैं। समय मनुष्य की वृत्ति को भी उपयुक्त बनाने में सहायक होता है। अमृतवेले में जो ताज़गी, शान्ति और सात्विकता की लहर होती है, वह मनुष्य को भी ताज़ा, शीतल और मनोवाँछित कर्मों में प्रवृत करती है। दोपहर के समय का वातावरण दूसरी ही प्रकार का होता है। अत: मनुष्य को योगाभ्यास इत्यादि प्रात: काल ही में करना चाहिये।

अब हमें यह देखना है कि जैसे 24 घंटे के दिन के हिसाब से दिन

और रात इत्यादि बने हुए है वैसे ही 'कल्प घड़ी' में भी दिन और रात हैं तथा आत्माओं के इस सृष्टि में आने के फिर अन्त में यहाँ से जाने के भी समय हैं। उस दृष्टिकोण से वर्त्तमान काल कलियुग के अन्त और सतयुग के आरम्भ का संगम समय है जिसको 'ब्रह्मा' की रात्रि के अन्त और ब्रह्मा के दिन के आरम्भ का 'संधिकाल' भी कहा जाता है। इसे ही 'अमृतवेला' या 'ब्रह्मा मुहुर्त्त' भी कहा जाता है। यही समय योगाभ्यास के लिये सर्वश्रेष्ठ है। इसी काल में ही परमपिता परमात्मा शिव प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा मनुष्यात्माओं को ईश्वरीय ज्ञान की शिक्षा देते तथा सहज राजयोग सिखाते हैं। इस रात्रि के अन्त में ही प्राय: सभी मनुष्यात्माएं योगाभ्यास के फलस्वरूप परमधाम अथवा ब्रह्मलोक को लौट जाती हैं। अत: अब जबकि वही समय है तो हमें अपनी स्थिति में यह बात धारण करनी चाहिये कि हमें वापिस परमधाम जाना है। इस स्मृति से हमारी 'बुद्धि का लंगर' इस संसार रूपी तट से उठ जायेगा और हमारा जीवन रूपी जहाज परमधाम की ओर चलने लग जायेगा। यह उपराम वृत्ति हमारे समस्त पुरुषार्थ के लिये ज़रूरी है। जब मनुष्य को कहीं जाना होता है तब उसकी मन रूपी आँख लक्षित स्थान पर टिक जाती है, उसके हाथ यात्रा की सामग्री को इकट्ठा करने में लग जाते हैं, उसकी बुद्धि अब 'विदा' की घड़ी की ओर लग जाती है। इसी प्रकार अब मुझे यहाँ से अपने घर (परमधाम) जाना है- इस स्मृति से मनुष्य का मन परमधाम पर टिक जाता है। **वैराग्य और अभ्यास**, जिन्हें योग के लिये अत्यावश्यक माना गया है, इस दृष्टिकोण को अपनाने से सहज ही आ जाते हैं। मनुष्य ईश्वरीय याद रूपी यात्रा पर चल पड़ता है

और एक स्थान पर मन स्थित करने की जो 'धारणा' है, वह सहज ही हो जाती है।

फिर, जब मनुष्य को यह भी याद रहता है कि परमधाम जाकर मुझे सतयुगी, पावन, दैवी सृष्टि में लौटना है जहां अशान्ति तथा मनोविकार नाम मात्र भी नहीं होते तो वह स्वयं में दिव्य गुणों को धारण करने तथा स्वयं को पवित्र बनाने के पुरुषार्थ में पूरी तरह जुट जाता है। वह तनाव और तंगदिली के संस्कार छोड़कर अब स्वयं को शान्तिपूर्वक संस्कारों वाला बनाना शुरू कर देता है। कलह-क्लेश की आदतों को मिटाने का भरसक यत्न करता है।

इस पर भी चूंकि वह भली-भांति जानता है कि जो आत्मा अभी पवित्र नहीं बनेगी, उन्हें धर्मराजपुरी में अपने विकर्मों के कारण दण्डित होना पड़ेगा। अब वह स्वयं को पवित्र एवं योगयुक्त बनाने का तथा सोलह कला सम्पूर्ण देव पद प्राप्त करने का पूर्ण पुरुषार्थ करता है। अत: मेरा तो यह विश्वास है कि यदि उपरोक्त तीन-चार युक्तियों को कोई मनुष्य अपने जीवन में पूरी तरह अपनाये तो वह विकर्मों से छूट सकता है तथा 'पवित्र बनो और योगी बनो' की ईश्वराज्ञा के पालन द्वारा न केवल इस जन्म में बल्कि सदा के लिये शान्ति का अधिकार अथवा वरदान प्राप्त कर सकता है।

यथार्थ कर्म

कर्म करते समय मनुष्य के सामने यह भाव भी तो स्पष्ट होना चाहिये कि वह किस के लिये कर्म करता है। जन्म जन्मान्तर तो मनुष्य अपने

लौकिक सम्बन्धियों ही के लिये कर्म करता चला आया है। आज भी वह हर बात में यह कहा करता है-''क्या करूं बाल बच्चेदार आदमी हूं, ऐसा करना ही पड़ता है।'' गोया वह अपनी पत्नी तथा अपने बच्चों अथवा अपने घर, गृहस्थी तथा अपनी देह के लिये कर्म करता है। कर्म के लिये यह बहुत ही घटिया तरीका है। इससे ही मनुष्य के मन में लगाव और फिर तनाव पैदा होता है। इसकी बजाय अब उसे यह सोचकर कर्म करना चाहिये कि परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा जो विशाल यज्ञ (अविनाशी ज्ञान यज्ञ) रचा है, मुझे उसके लिये कर्म करना है। उसके मन में त्याग एवं सेवा की भी भावना रहेगी। उसमें ममत्व और लौकिकता भी नहीं होगी। परिणाम-स्वरूप अशान्ति नहीं होगी।

पुनश्च, कर्म करते समय मनुष्य में ''**बालक सो मालिक**'' की स्मृति रहनी चाहिये अर्थात् यह स्मृति रहनी चाहिये कि मैं तो शिवबाबा का बालक हूँ, मालिक तो परमात्मा हैं। इस स्मृति से उसे परमपिता का सदा साथ अनुभव होगा। उसमें बालक की तरह सरलता और हल्कापन भी रहेगा और 'मालिक' की तरह जिम्मेवारी भी।

कर्म की गहन गति

गीता में भगवान ने कहा है-''हे वत्स, कर्मों की गति अति गहन है। इसे पण्डित और विद्वान नहीं जानते, इसलिए तू कर्म-गति का ज्ञान मुझ ही से प्राप्त कर।'' बात है भी ठीक, स्वयं कर्म के अधीन मनुष्य कर्म की गहन गति को अपने ही यत्न से कैसे जान सकता है?

अत: हम देखते हैं कि परमपिता शिव हमें चार विषयों का ज्ञान स्वयं आ कर देते हैं। यह ज्ञान, मनुष्य, चाहे वे कितने ही बड़े दार्शनिक या वैज्ञानिक हों, नहीं दे सकते क्योंकि वे तो स्वयं ही जन्म-मरण के चक्कर में हैं। अब हम अपने अनुभव द्वारा भी यह जानते और मानते हैं कि सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग और संगमयुग का जो ज्ञान हमें उन परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा दिया है, वह ज्यों का त्यों न तो किसी शास्त्र में वर्णित है, न हीं कोई गुरु या गोसाई वह ज्ञान देता है, न ही कोई दे सकता है क्योंकि मनुष्य को अपने अनेक जन्मों के आदि-मध्य-अन्त का पता नहीं है।

इसके अतिरिक्त, परमात्मा शिव कहते हैं – मैं जो हूँ और जैसा हूँ उसका ज्ञान भी मैं स्वयं ही अवतरित होकर देता हूँ। जैसे संसार में लौकिक पिता ही अपने पुत्रों को परिचय देता है वैसे ही आत्माओं रूपी वत्सों को भी अपना परिचय स्वयं परमात्मा ही देते हैं। ऋषि-मुनि तो परमात्मा के बारे में नेति-नेति ही कहते आये हैं। उन्होंने परमात्मा के बारे में 'इद इत्थं' ज्ञान नहीं दिया, अर्थात् यह नहीं बताया कि परमात्मा का ऐसा स्वरूप है। परमात्मा की को ज्ञान चक्षु का दाता और दिव्य दृष्टि विधाता कहा गया है। वही दिव्य बुद्धि तथा दिव्य साक्षात्कार करा के अपने वत्सों को अपने

स्वरूप का सही बोध कराते हैं।

फिर, मनुष्य जब परमपिता का यथा सत्य परिचय नहीं दे सकते तो वे वास्तविक योग की शिक्षा कैसे दे सकेंगे? जब वे स्वयं ही देह-अभिमान में हैं तो दूसरों को देही के अनुभव में कैसे स्थिर कर सकेंगे? मनुष्य तो परमात्मा द्वारा सिखाये गये आदि सनातन योग को ही भूल जाते हैं। अत: भगवान् ने गीता में भी कहा है कि - ''हे वत्स, **जब यह योग प्राय: लुप्त हो जाता है तो मैं ही अवतरित होकर इसकी शिक्षा देता हूँ।**''

चौथे, भगवान के ये भी वाक्य हैं कि– ''कर्मों की गति बहुत ही सूक्ष्म तथा गहन है। इसे भला मनुष्य क्या जाने? **कर्म, अकर्म, विकर्म तथा उसकी गति** को भी तू मुझ द्वारा ही जान।'' अब प्रश्न उठताहै कि कर्मों के भेद तो मनुष्यों ने पहले ही बता रखे हैं '**क्रियमान कर्म**', '**संचित कर्म**', '**प्रारब्ध कर्म**', 'सत्कर्म', 'अकर्म', 'विकर्म', 'कुकर्म' इत्यादि की परिभाषाएं हैं। कर्म के बारे में '**विधि और निषेध**', अर्थात् क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये- इसके बारे में भी स्मृति-ग्रन्थों में तथा धर्म-शास्त्रों में स्पष्ट बताया गया हैं, तब परमात्मा अवतरित होकर हमें 'कर्त्ता' और 'कर्म' तथा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ', 'कर्मेन्द्रियों' और 'कर्म-फल' के बारे में नई बातें कौन-सी बताते हैं जिसके कारण उनके महावाक्य हैं कि ''पण्डितगण भी इस विषय में अन्धकार में हैं।''

इसके उत्तर में हमारा कथन है कि परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा कर्म, कर्म-गति तथा विधि-निषेध का इतना ज्ञान दिया कि उस सारे ज्ञान को तो कई ग्रन्थों में भी लिपिबद्ध करना सम्भव नहीं है। उन्होंने कर्म के

विषय में कई ऐसी मर्यादाएं भी बताई हैं जो सभी के लिए हैं और व्यक्तिगत रूप से स्थिति तथा परिस्थिति के अनुसार भी कर्म के पथ पर अनेकानेक का मार्ग-दर्शन कियाहै। उस सभी विस्तार का सार हम यहां दो शीर्षकों के अन्तर्गत देंगे। उनमें से एक है – **व्यक्तिगत पुरुषार्थ** अथवा साधना सम्बन्धी, जिसका सम्बन्ध अपने लक्ष्य का पुरूषार्थ करने, मनुष्य से देवता बनने, नि:श्रेयस, मुक्ति एवं जीवनमुक्ति अथवा कैवल्य प्राप्त करने से है। दूसरा है – संसार में हो रहे विभिन्न प्रकार के कर्मों के बारे में ज्ञान। इन दोनों को मिलाकर हमने यहां अत्यन्त संक्षेप में कुल सोलह ही ज्ञान बिन्दुओं को स्पर्श किया है। इन सोलह को जानकर तदानुसार कर्म करने से मनुष्य सोलह कला सम्पूर्ण बन सकता है।

व्यक्तिगत पुरुषार्थ-सम्बन्धी

हम देखते हैं कि मनुष्य स्वयं को पवित्र, महान् अथवा दिव्य गुण सम्पन्न बनाने के लिये जो पुरूषार्थ करता है, उसमें वह एक तो दान-पुण्य, जिसे मुसलमान लोग ज्कात और अंग्रेजी भाषा-भाषी ईसाई लोग 'चेरिटी' कहते हैं, करता है। दूसरे वह 'सेवा' जिसे मुसलमान लोग 'खिदमत ए खल्क' और ईसाई लोग 'सर्विस आफ मेनकाइन्ड' (Service of mankind) या दया (रहम, Mercy, compassion) कहते हैं, को अपनाता है। तीसरे वह स्वाध्याय, पाठ या सत्संग के दैनिक नियम का पालन करता है। चौथे वह पूजा, प्रार्थना, निमाज, यज्ञ, इबादत, योग, तपस्या इत्यादि का आश्रय लेता है। पांचवे, वह सत्य, अहिंसा और निर्विकार जीवन को ही अपनाने का यत्न करता है। छठवें, यदि उससे कोई भूल हो जाये तो उसके लिए

परमात्मा, इष्ट, अल्लाह या लार्ड गॉड (Lord God) के सामने उसे स्वीकार (Confess) करता है अथवा उसके लिए व्रत प्रायश्चित इत्यादि साधन अपनाता है। हम इन छहों की चर्चा करते हुए बताएंगे कि शिवबाबा ने इनके बारे में क्या बताया है।

1. दान पुण्य (Charity)

धार्मिक लोग मानते हैं कि दूसरों को ईश्वरार्थ दान देने से मनुष्य पर परमात्मा कृपा करते हैं। अत: निर्धनों की सहायता के लिए ईसाइयों ने Salvation Army, कुछेक मुसलमानों ने जमाते खुदाई खिदमत गार या 'वक्फ' (Religious Endowments) इत्यादि बनाई हुई हैं। ईसाई लोग क्रिसमस (Christmas) के दिन विशेष रूप से गरीबों के बच्चों के लिए मिठाई व खिलौनों की सौगात, कपड़े आदि देते हैं। मुसलमान लोग भी रोज़ों के दिनों में और खास तौर ईद के अवसर पर जकात या खैरात या दान देते हैं क्योंकि उनको विश्वास है कि दान करने वालों पर खुदा खैर करता है। इसी प्रकार 'हिन्दु' लोग भी अनेकानेक अवसरों पर विशेष तौर पर दान-पुण्य करते हैं। वे धर्मशालाएं बनवाते, प्याऊ खुलवाते, खाने के 'लंगर या भण्डारा' चलाते या धन-दान, वस्त्र-दान इत्यादि करते हैं। यहाँ तक कि आज हम सुनते है कि धार्मिक (Religious minded) या सामाजिक (Social) लोग गुर्दे का दान, रक्त दान, (Blood donation) भी करते हैं। इस पर लोगों ने कई लोक कल्याणार्थ (Public charitable) संस्थाएं भी बना रखी हैं अथवा जन हित के लिए कार्य (Philanthropic Work) चला रखे हैं।

अब परमात्मा शिव ने हमें समझाया है कि क्या दान करने से क्या प्राप्त होता है। उदाहरण के तौर पर उन्होंने बताया है कि धन-दान करने से किसी सेठ-साहूकार या सम्पत्तिवान के घर में जन्म होता है और काफी बड़ी सम्पत्ति प्राप्त होती है, हस्पताल खोलने से स्वास्थ्य लाभ होता है, विद्यालय खोलने से विद्योपार्जन होता है, अन्न-जल का दान करने से मनुष्य को अन्न धन की कमी नहीं रहती । परन्तु कर्मों के आदि-मध्य-अन्त को जानने वाले परमपिता शिव ने बताया है कि इन सभी से ये फल तो प्राप्त होते हैं परन्तु यह अल्पकाल ही के लिए होते हैं तथा इनसे मनुष्य को सर्वांगीण सुख नहीं मिलता क्योंकि वह पूर्णत: पवित्र नहीं बनता। पुनश्च, जिन का धन, वस्त्र, स्थान इत्यादि का दान दिया जाता है, वे भी प्राय: मनुष्यों के आश्रय अथवा दान पर ही जीवन को आधारित कर देते हैं। इससे उन्हें एक आदत-सी पड़ जाती है। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने कर्मों का हिसाब भी तो बाद में चुकता करना पड़ता है। जो लिया है, उसका किसी प्रकार तो बोझ उतारना ही पड़ता है।

अत: परमात्मा शिव का मत है कि सर्वश्रेष्ठ दान गुणों का दान है। यदि हम मनुष्यों को ज्ञान दान दें तो उससे उन्हें स्वरूप का तथा दाता 'परमात्मा' का बोध होता है और वह जीवन का लक्ष्य जान कर अच्छे कर्म करने में प्रवृत होते हैं। वे सदाचारी तथा निर्विकारी बनतें हैं जिसके फलस्वरूप उनका भविष्य सुधर जाता है। परन्तु ज्ञान-दान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण 'योगदान' है। योग-दान से मनुष्य आत्मा का सम्बन्ध स्वयं परमात्मा से जुड़ जाता है जिसके फलस्वरूप उसका जीवन ही पलट जाता

है और वह सुख-शान्ति सम्पन्न बन जाता है। **इसलिए आप देखेंगे कि आज 'योग-दान' शब्द सहायता तथा सहयोग का पर्यायवाची हो गया है, क्योंकि मनुष्य को योग और क्षेम दोनों की सिद्धि होती है। योग दान द्वारा ही गुण-दान भी हो सकता है। 'योग' ही वास्तव में 'सहयोग' है।** योग द्वारा मनुष्य का रोग और भोग समाप्त होता है और दु:ख तथा वियोग का भी अन्त होता है।

पुनश्च, ज्ञान को 'नेत्र' भी कहा गया है, परमौषधि भी। यह औषधि ऐसी है जो आधि और व्याधि दोनों का अन्त करती है। यह अमृतधारा है। यह 'संजीवनी' बूटी है। ज्ञान-दान ही सच्चे अर्थों में स्वास्थ्य-केन्द्र (Health Centre for the body and the soul) खोलना तथा नेत्र-दान करना है क्योंकि इस द्वारा मनुष्य 'स्व' में स्थित होकर शारीरिक आरोग्य प्राप्त करता है तथा उसे दिव्य चक्षु भी प्राप्त होता है। ज्ञान को 'रत्न' भी कहा गया है और 'धन' भी क्योंकि इस द्वारा ही नर-नारी सदा के लिए धन-धान्य के भण्डार प्राप्त कर लेता है। परमपिता परमात्मा शिव ने समझाया है कि ज्ञान रूपी धन के दान द्वारा ही तो प्रजापिता ब्रह्मा तथा जगदम्बा सरस्वती ने पूज्य विश्व महाराजन श्री नारायण और पूज्य महारानी श्री लक्ष्मी के रूप में स्वर्गिक राज्य-भाग्य प्राप्त किया था। अत: अपनी व्यक्तिगत उन्नति के लिए भी परमात्मा शिव ने समझाया है कि यह ज्ञान-धन दान करो। यह ज्ञान ही आत्माओं के लिए भोजन भी है और 'जल' भी क्योंकि इस द्वारा ही आत्माओं की शान्ति की प्यास तृप्त होती है और प्रभु-मिलन रूपी क्षुधा शान्त होती है। अत: यही सर्वश्रेष्ठ दान है। अथवा ईश्वरीय ज्ञान एवं योग

के द्वार को खोलने तथा उनके प्रचलन कार्य में मन्सा, वाचा और कर्मणा सहयोग देना ही सर्वश्रेष्ठ फिलानथ्रोपिस्ट (Philanthropist) बनना, महादानी बनना, विश्व-कल्याणी बनना तथा परोपकारी बनना है।

2. सेवा (Social Service)

संसार में सेवा भी कई तरह की है। परन्तु सभी प्रकार के सेवा कार्यों के पीछे भाव दुखियों को सुखी बनाने का है। सेवा करने से मनुष्य में नम्रता, उदारता, त्याग, कार्य कुशलता, सहयोगीपन इत्यादि कई गुणों का विकास होता है। इन गुणों के ही फलस्वरूप मनुष्य को अपने उच्च कर्त्तव्य का फल भी श्रेष्ठ ही मिलता है। इसलिए कहा गया है कि 'सेवा बिना मेवा नहीं'। अध्यात्म में विकास न रखने वाले भी बहुत- से लोग समाज सेवा (Social Service) के कार्य में लग जाते हैं। वे बालकों तथा बालिकाओं की शिक्षा, महिलाओं के जीवनोत्थान, पतित स्त्रियों के कल्याण-कार्य, दलित एवं पिछड़े वर्गों की उन्नति से सम्बन्धित कार्य तथा अपठितों के लिए पठन-पाठन के साधन जुटाने आदि कार्यों में लग जाते हैं, भूखों-नंगो तथा बाढ़ पीड़ित लोगों को राहत पहुँचाने इत्यादि के कार्य करते हैं, गोया वे जनता के हित के लिए ऐसे कार्यों में अपने समय और शक्ति को जुटा देते हैं।

परन्तु परमात्मा कहते हैं कि आज करोड़ो लोग स्वयं को ही नहीं जानते, वे कर्मों की श्रेष्ठता के साधनों को ही नहीं अपनाते औरउन्हें परमपिता परमात्मा का भी ज्ञान नहीं है। अत: ऐसे अपठितों को पहले जीवन के मूल्य का ज्ञान देना, मनुष्य को मनुष्यता का पाठ पढ़ाना, उन्हें अच्छी आदतें सिखाना जरूरी है। 'अक्षर' शब्द का अर्थ है जो विनाश न

हो। अत:वर्णमाला के अक्षरों के ज्ञान से भी पहले तो मनुष्य को 'नाश' न होने वाली, (अक्षर) आत्मा का तथा परमात्मा का ज्ञान जरूरी है तथा आत्मा और परमात्मा के बीच प्रेम के ढाई अक्षर पढ़ना भी आवश्यक है। हाँ, भाषा के अक्षर पढ़ना भी आवश्यक है। हाँ, भाषा के अक्षर पढ़ना भी निस्संदेह अच्छा है परन्तु एक अच्छा नागरिक अथवा एक अच्छा मनुष्य बनने की विद्या पढ़ना उससे भी ज्यादा जरूरी है, वर्ना पढ़-लिखकर भी यदि मनुष्य धोखेबाज, रिश्वतखोर, स्मगलर, जमाखोर तथा काम वासना द्वारा दूसरों को पतित बनाने वाला और जन-संख्या में अतिवृद्धि करने वाला हो तो वह समाज के लिए अभिशाप ही है। अत: समाज के लिये सबसे बड़ी सेवा मनुष्य को ईश्वरीय शिक्षा द्वारा नैतिकता का एवं आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ाना है। काम, क्रोधादि विकार से कोढ़ी बनी आत्मा के कुष्ठ रोग को दूर करने की सेवा करना है। मन में विकारों की बाढ़ से पीड़ित, क्रोध के भूचाल से दुखित आत्मा को राहत पहुँचाना एक महान समाज सेवा है जिससे कि समाज की सभी समस्याओं का समूल अन्त हो जाता है। आपदा पाने पर लोगों को वस्त्र, अन्न, औषधि तो देनी ही चाहिए-परन्तु इस दु:ख-ग्रस्त संसार के ढांचे को ठीक करने के लिए, ताकि आगे के लिए आपदा-विपदा आये ही नहीं, मनुष्य मात्र को सदाचार एवं सात्विकता का पाठ पढ़ाने रूप समाज सेवा से लाभान्वित करना आवश्यक है।

3. स्वाध्याय, सत्संग, पूजा-पाठ, योग, यज्ञादि

हमने बताया है कि मनुष्य अपनी आत्मिक उन्नति के लिए पूजा, पाठ, सत्संग, योग साधना, तपस्या, प्रार्थना इत्यादि करता है। परन्तु परमपिता

परमात्मा शिव ने अब हमें इन सभी का सही स्वरूप समझाया है। परमपिता ने बताया है कि किसी धार्मिक पुस्तक को पढ़ लेना या पढ़कर उस पर मात्र मनन करना ही 'स्वाध्याय' नहीं है बल्कि 'स्व' में ध्यानस्थित होना अथवा स्थित होना ही सच्चा स्वाध्याय है। इसी प्रकार 'साध्य' - परमपिता परमात्मा का-सत्य ज्ञान प्राप्त करके मत को उनकी स्मृति में समाहित करना ही वास्तविक 'साधना' है। इस द्वारा आत्मा को परमात्मा के संग अथवा निकट्य का अनुभव कराना ही सही अर्थ में 'सत्संग' अथवा 'उपासना' है। इसी योगाग्नि में आत्मा को तपाकर पवित्र बनाना ही सच्ची तपस्या है। इसके लिये ही तो परमपिता शिव ने हमें योग की विधि और सिद्धि का स्पष्ट ज्ञान दिया है, इस योगावस्था में रहते हुए कर्म करना ही तो वास्तव में 'कर्मयोग' है आत्मा रूपी धर्म में स्थित होना 'स्वधर्म' का पालन करना है। कर्म करते हुए भी पवित्र रहने अथवा पवित्रता पूर्वक कर्म करना ही तो धर्म (पवित्रता) और कर्म का समन्वय है। यही तो साधना की सही रीति है।

इसी प्रकार परमपिता परमात्मा ने यह भी कहा है कि स्थूल अग्नि को धारण कर स्थूल वस्तुओं को होम करना ही 'यज्ञ' नहीं बल्कि ज्ञानाग्नि तथा योगाग्नि जगाकर उसमें 'काम स्वाहा'-इस प्रकार अपने मनोविकारों की आहुति देना ही वास्तविक 'ज्ञान-यज्ञ', 'अश्वमेघ-यज्ञ' अथवा 'रुद्र-यज्ञ' है, जिसके द्वारा ही विश्व में शान्ति की स्थापना में हम भी योग-दान करते हैं तथा भविष्य के लिए सभी मनोकामनाएं एक-साथ पूर्ण कर सकते हैं। इसी तरह सच्ची इबादत, नमाज़, पूजा, प्रेयर (Prayer) मात्र इतना ही नहीं कि हम प्रभु के आगे झुक जाएं, उनकी तो महिमा करें परन्तु स्वयं पतित एवं

विकारी बनें रहें। परमात्मा की सच्ची महिमा इसी में हैं कि हम उसके महान् गुणों को धारण करके स्वयं महान् एवं महिमा योग्य अथवा पूज्य अर्थात् पवित्र बनें। यदि हम प्रार्थनाएं ही करते हैं तो हममें भीख माँगने की आदत पड़ जाती है और हम अपवित्रता को पूर्ण दृढ़ता से नहीं छोड़ते। यह कमज़ोरी तथा अपनी ही ग्लानि करने की आदत हमें पूर्ण पवित्र बनने ही नहीं देती। एक प्रकार से हमारे पूर्णोत्कर्ष में यह एक बाधा बन जाती है। निश्चय ही परमात्मा को सम्बोधन करना तो अच्छा है, अपने मन की बात उसके समक्ष रखना भी उचित है परन्तु अपनी नीचता ही का बखान या गायन करते रहना, स्वयं को प्रतिदिन 'कामी क्रोधी' कहते रहने की एक ग़लत नीति है। **अतः योग ही वास्तविक तपस्या, उपासना, साधना और संध्या है जिससे ही हमारा पूर्ण विकास होता है।**

4. सत्य, अहिंसा और निर्विकार जीवन

प्रायः लोग यह भी मानते हैं कि हम जो वाणी बोलें वह सत्य और प्रिय हो, हमारे कर्मों द्वारा किसी का हनन् न हो, हम किसी को भी दुःख न पहुँचाएं और हमारा जीवन निर्विकार भी हो परन्तु साथ ही लोग जाने-अनजाने ऐसे ग्रन्थों का अवलोकन तथा अध्ययन करते और उनमें निश्चय भी करते हैं कि जिनमें आत्मा, परमात्मा, सृष्टि इत्यादि के बारे में असत्य ज्ञान है। वे निर्विकार तो रहना चाहते हैं, परन्तु साथ-साथ यह मानकर कि बच्चों पर क्रोध किए बिना वे सुधरते नहीं, मोह किए बिना गृहस्थी चलती नहीं, लोभ किए बिना कमाई होती नहीं, रोब, अहंकार के बिना व्यक्ति प्रभावशाली (Impressive Personality) नहीं बनता और काम वासना का

भोग किये बिना मन मानता नहीं, वे थोड़ा-बहुत विकारी भी बने रहते हैं। परन्तु अब परमपिता परमात्मा शिव ने समझाया है कि 'पवित्रता' या 'निर्विकारिता' का अर्थ पूर्ण पवित्रता है। जैसे सप्ताह में एक बार सिग्रेट पीने वालों को भी स्मोकर (Smoker) तो कहा ही जाता है, उसी प्रकार थोड़ा-बहुत विकार होने पर भी मनुष्य को कहा तो 'विकारी' ही जायेगा। अत: शिव बाबा ने हमें पूर्णत: निर्विकारी बनने का लक्ष्य दिया है और मार्ग भी दर्शाया है। उन्होंने कहा है कि **ब्रह्मचर्य ही सम्पूर्ण अहिंसा है क्योंकि काम-कटारी चलाना ही जीवघात तथा हिंसा प्रारम्भ तथा मूल है।** विकारी ग्रन्थों को पढ़कर 'आत्मा ही परमात्मा', मनुष्य आत्मा निर्लेप्य है, श्री कृष्ण की 16108 पटरानियाँ थी जिनसे उन्हें 161080 बच्चे पैदा हुए, ब्रह्माजी सरस्वती पर मोहित इत्यादि-इत्यादि बातों को मानना तथा कहना असत्य में विश्वास करना तथा असत्य बोलना है। यह पावन एवं पुण्य आत्माओं की मिथ्या निन्दा करना तथा उन पर कलंक लगाकर पाप का भागी बनना है।

इस प्रकार परमपिता परमात्मा शिव ने हमें अपनी आत्मिक उन्नति से सम्बन्धित इन विशेष कर्मों तथा उनकी गति का हमें नया परिचय दिया है। पहले किसी ने भी इस प्रकार दान, यज्ञ, यात्रा योग, सत्संग, सत्य अहिंसा इत्यादि कर्मों की ऐसी व्याख्या नहीं की थी।

5. भूल होने पर प्राचश्चित् तथा व्रत इत्यादि

प्राय: भक्त लोग कोई भूल, पाप विकर्म इत्यादि हो जाने पर 'उपवास' या 'व्रत' करके स्वयं को दण्डित करते हैं। वे गंगा में जाकर स्नान करते हैं अथवा किसी यात्रा अथवा तीर्थाटन में लग जाते हैं या मौन ही धारण कर

लेते हैं। परन्तु परमपिता परमात्मा शिव ने समझाया है कि पुन: उस भूल, विकर्म अथवा पाप को न करने की प्रतिज्ञा अथवा दृढ़ धारणा ही सच्चा व्रत है, ईश्वरीय ज्ञान का अधिक अध्ययन एवं श्रवण ही वास्तविक गंगा स्नान है जिससे कि आत्मा पावन होती है, मन द्वारा परमपिता परमात्मा ही के पास जाने का पुरुषार्थ सच्ची यात्रा है, मन को तीर्थ-स्वरूप (पावनकारी) परमात्मा की स्मृति में स्थित करना अथवा उसके गुणों का संत्सग करना ही वास्तविक तीर्थाटन है और व्यर्थ एवं विकारी संकल्पों को शान्त करना ही मन का सच्चा मौन है। इस प्रकार मन को दुबारा भूल न करने से रोकना ही सच्चा प्रायश्चित है। योगाभ्यास ही परमात्मा के पास बैठने वाला सही 'उप-वास' हैं। इस उपवास में ही मन को बुरे संकल्प रूप खाना नहीं मिलता और उसका संस्कार ढीला हो जाने से यह बुराई छोड़ देता है।

इस प्रकार से अपने कर्मों को सुधारने वाले व्यक्ति का ध्यान स्वयं को ठीक करने में लगा रहता है। वह दूसरों के अवगुण नहीं देखता। कर्म के बारे में सभी राज़ मालूम हो जाने के कारण वह 'नाराज' नहीं होता। विकारों का दास न होने के कारण वह उदास भी नहीं होता। वह अपनी प्रवृत्ति को पवित्र करने की धुन में लगाा रहता है। इसलिए वह अपने चित्त को मैला करने वाली बातें न देखता हैं, न सुनता है। इसलिए वह सदा खुश रहता है, सुस्त, अशान्त या दु:खी नहीं होता।

शिव बाबा ने यह भी कहा हैं कि (1) भूल को अपने दिलवर (परमात्मा) को बता देने से भूल आगे बढ़ेगी नहीं बल्कि आधी हो जावेगी। यदि भूल बार-बार दोहराई जायेगी तो पक्की हो जायेगी। फिर ज्ञान वान होते

हुए भी जो व्यक्ति भूल करेगा उसको उसका सौगुणा दण्ड मिलेगा। अत: बाबा ने दूसरों की भूल-चूक को मन में न रखने, अपनी भूल को न दोहराने तथा उसके बारे में सावधान रहने के लिए कहा है। बाबा ने यह भी समझाया है कि सबसे बड़ी भूल है अपने-आप (आत्मा) को भूलना तथा 'बाप' परमपिता परमात्मा को भूलना। इस भूल से ही सभी भूलें पैदा होती हैं। इसको मिटाने से सभी भूलें मिट जाती हैं।

कर्म-गति

'गहनों कर्मस्य गति' कर्म की गति गहन है। उसे मनुष्य अपने ही परिश्रम से नहीं जानते। गीता में भगवान ने कहा है कि मुझे स्वयं ही अवतरित होकर कर्म की गुत्थी को सुलझाना पड़ता है। अत: प्रश्न उठता है कि परमात्मा ने ब्रह्मा बाबा द्वारा हमें कर्मों के कौनसे गहन रहस्य बतायें हैं? इस प्रश्न को लेकर ही कुछेक गहन रहस्यों का हम नीचे उल्लेख कर रहे हैं, हमारे कर्म, हमारे आहार, व्यवहार, व्यापार, आचार इत्यादि के रूप में ही व्यक्त अथवा मूर्त्त होते हैं। वे ही हमारे जन्म, भोगादि का भी रूप लेते हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए अब हम कर्म-गति के बारे में कुछ रहस्य प्रकट करेंगे।

परमपिता परमात्मा शिव ने कर्मों की गति के विषय में जो गहन रहस्य खोले हैं। अब हम उन पर प्रकाश डालते हैं। उनमें से एक यह है कि मनुष्यात्मा कर्मों का फल सदा मनुष्य-योनि में ही भोगती है। वह बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप पशु-पक्षियों इत्यादि योनियों में नहीं जाती।

2. स्वर्ग और नरक कहीं अन्य स्थान पर नहीं हैं

परमपिता शिव ने अब यह भी ज्ञान दिया है कि स्वर्ग, बैकुण्ठ या सुखधाम पृथ्वी से ऊपर कहीं सूर्य, चाँद इत्यादि में नहीं है, न ही नरक कहीं पृथ्वी के नीचे है बल्कि सतयुग ओर त्रेतायुग में ही यह सृष्टि स्वर्ग तथा द्वापर और कलियुग की सृष्टि ही नरक है। सतयुग के नारी और नर ही

---

1. इस विषय में मौत से पहले क्या और मौत के बाद क्या – इस शीर्षक वाली पुस्तक पढ़िये।

देवी-देवता है, द्वापर में वे मनुष्य है और कलियुग में ही वे आसुरी, लक्षणों वाले होते हैं।

3. आहार-विहार

परमपिता शिव ने समझाया है कि अन्न न केवल पवित्रता अर्थात् सदाचार पूर्ण रीति से कमाया हुआ होना चाहिए और न केवल उसमें तामसिक पदार्थ नहीं होने चाहियें बल्कि वह पका हुआ भी ब्रह्मचर्य पालन करने वाले तथा योग-युक्त लोगों ही के हाथों से होना चाहिए, वर्ना 'अन्न दोष' लगता है जो कि मनुष्य की मनोस्थिति को डाँवाडोल कर देता है।

संन्यासी लोग तो 'भिक्षा-वृत्ति' को अपनी एक मुख्य धारणा मानते हैं। वे भिक्षार्जन द्वारा ही पेट भरते हैं। उनका यह मन्तव्य है कि इस प्रकार मनुष्य में लोक-लाज नहीं रहती और उसका अभिमान भी चूर-चूर हो जाता है। परन्तु परमपिता शिव ने समझाया है कि इस प्रकार उदर-पूर्ति करने से मनुष्य का कर्म-खाता पुन: विकारी गृहस्थियों से जुटना शुरू होता है, विकारी लोगों द्वारा पकाया गया अन्न सेवन करने से मनोस्थिति भी उच्च नहीं बन पाती। अत: इसके परिणामस्वरूप सन्यासियों का पुन: विकारी गृहस्थियों के पास जन्म होता है। परमपिता शिव ने तो हमें समझाया है कि 'माँगने से मरना' भला है। हमारे हाथ सदा देने की मुद्रा में होने चाहिए। सेवा ही हमारा धर्म होना चाहिए और हमें परमपिता परमात्मा की स्मृति में स्थित होकर ही भोजन पकाना तथा खाना चाहिए।

4. विवाह

लोग मानते हैं कि यदि एक स्त्री का नियम रहे तो विवाह भी ब्रह्मचर्य

के समान है। परन्तु परमपिता शिव ने समझाया है कि सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य ही योगी का परम धर्म है। 'काम' विकार में प्रवृत होने वाला 'भोगी' ही है, उसे 'योगी' नहीं कहा जा सकता। अत: संगमयुग में गृहस्थ होते हुए भी यदि कोई योगी बनना चाहता है तो उसे ब्रह्मचर्य का पालन तो करना ही होगा। यहाँ तक कि यथा सम्भव योगी को विकार के नाते जोड़ने के कार्यों में भी अपनी बुद्धि को नहीं लगाना चाहिए। हाँ, दृष्टि तथा वृत्ति के इधर-उधर भटकने की तुलना में गृहस्थ अधिक ठीक है परन्तु ईश्वरीय स्मृति के आनन्द में लवलीन होने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। किन्तु ब्रह्मचर्य का भी पूर्णत: पालन केवल उपदेश सुनने से नहीं हो सकता बल्कि जिसकी आत्म-ज्ञान से जाग जाती है तथा योग द्वारा जो व्यक्ति आनन्द रस चख लेता है, वही आत्म-निष्ठा द्वारा इसका पालन कर सकता है।

5. कर्म और इच्छा

कई लोग कहते हैं कि मनुष्य का जन्म कर्मों के कारण और कर्म इच्छाओं के कारण होता है। अत: वे कहते हैं कि "इच्छाओं और कर्मों का त्याग कर दो ताकि जन्म-मरण से छूट जायें और इस दु:खमय सृष्टि से मुक्ति मिल जाये।" परन्तु परमपिता शिव ने समझाया है कि इस सृष्टि को हमने ही अपने बुरे कर्मों से दु:खमय बनाया है वर्ना यह आदिकाल से दु:खमय नहीं थी। अत: अब इसे अपने कर्मों द्वारा सुखमय बनाना भी हमारा कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को करना भी हमारा कर्त्तव्य है। इसके लिए सर्व इच्छाओं को छोड़ने की जरूरत नहीं परन्तु विकार-जनित इच्छाओं को छोड़ने की ज़रूरत है अथवा आसक्ति को छोड़ने की ज़रूरत है; पदार्थों

की तृष्णा को छोड़ने की जरूरत है।

6. कर्मों से संस्कार बनते हैं

प्राय:लोग यह नहीं जानते कि आज हमारे जो संस्कार हैं, वे अनेक जन्मों के कारण ही हैं, अत: अब उनको बदलने के लिए हमें पुन: कर्म करके ही दिव्य संस्कार बनाने का अभ्यास करना पड़ेगा। यदि हम अहंकार के संस्कार से मुक्त होना चाहते हैं तो रात-दिन अब हमें अहंकारोत्पादक परिस्थितियों में भी निरहंकारी स्थिति में तथा नम्रतापूर्वक व्यवहार करना होगा। अनेक बार उन परिस्थितियों में पवित्रतापूर्वक व्यवहार करने से ही हममें अहंकार के स्थान पर नम्रता रूपी संस्कार की स्थापना और परिपक्वता होगी। अत: कर्म छोड़ने से हममें महानता नहीं आ जायेगी बल्कि आसुरी संस्कार कुछ काल के लिये छिप से जायेंगे। कर्म करके ही हमें उनको सुधारना होगा। कई प्रकार के संस्कार करने से ही हमारे संस्कार नहीं बदल जायेंगे बल्कि इन संस्कारों को उभारने वाली परिस्थितियों में अब ज्ञान तथा योग के बल द्वारा इन्हें परिवर्तित करने का पर्याप्त काल के लिए अभ्यास करना पड़ेगा।

7. संगमयुग में किये गये कर्म का कई गुणा फल

कर्मों तथा उनकी गति के सन्दर्भ में परमपिता शिव ने हमें यह भी समझाया है कि कलियुग के अन्त और सतयुग के आरम्भ के सन्धि काल में जो कर्म ईश्वरीय ज्ञान-बल तथा योग-बल के आधार पर किये जाते हैं, उनका फल कई गुणा होकर निरन्तर दो युगों तक सुख और शान्ति के रूप

में मिलता है। चूँकि वे सत्य-स्वरूप परमात्मा की स्मृति में रहकर, उसके मत पर चल कर तथा उसके संग में रहते हुए तथा उसका सहयोगी बन कर किए जाते हैं, इसलिए उन्हें ही 'सत्कर्म' कहा जा सकता है। सत्स्वरूप परमात्मा के संग में अथवा उनकी सम्मति से किये गये कर्मों से ही 'सतयुग' की स्थापना होती है। यही वे कर्म हैं जिनसे कि प्रकृति में भी सतोगुण उद्दीप्त होता है, नर-नारी के संस्कार भी सतोप्रधान बनते हैं और पशु-पक्षियों में हिंसा वृत्ति का अन्त हो जाता है। परमात्मा के संग के बिना कर्म 'सत्कर्म' में परिवर्तित हो ही नहीं सकते। ऐसे कर्म जब होते हैं तब सृष्टि में तमोगुण या झूठ समाप्त हो जाता है। एक भी मनुष्य जब परमात्मा के संग अथवा मत पर चलता है और सत्कर्म करने लगता हैं तो फिर यह क्रिया (process) रुक नहीं सकती, बल्कि उसके संग में आने वाले और नर-नारी भी 'सत्कर्म' करने वाले बनते जाते हैं। इनके फलस्वरूप 'सतयुग' अथवा कृतयुग आ जाता है। अत: निश्चित रूप से सत्कर्म परमात्मा ही के प्रभाव का फल है और 'विकर्म' माया अर्थात् छह: विकारों की ही प्रवेशता का परिणाम है।

विकार रहित कर्मों से ही सुख और शान्ति

सुख और दु:ख का सम्बन्ध किसके साथ है और वह किस रीति से उत्पन्न होता है-यह जानने की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि जीवन में पल-पल हम सुख या दु:ख का अनुभव करते हैं, सुख और दु:ख कर्म-जन्य हैं और इनका सम्बन्ध सीधा कर्म के साथ है। कर्म करते समय जैसी भावना होगी, जैसा उसका साधन होगा, तदनुसार ही उसका फल होगा। श्रेष्ठ कर्म का फल श्रेष्ठ ही होगा। अत: सदाकाल के लिए सर्वश्रेष्ठ सुख की प्राप्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ कर्मों की आवश्यकता है। जब तक बुरे कर्मों में पूर्ण परिवर्तन न आये तब तक पूर्ण सुख का अनुभव कदापि नहीं हो सकता है।

कर्म की महिमा

बहुतों की यह मान्यता है कि सुख एवं दु:ख दोनों परमात्मा ही देते हैं और इस रीति से वे ''ईश्वरेच्छा'' कहकर स्वयं को निर्दोष ठहराने की कोशिश करते हैं, परन्तु वास्तव में इस प्रकार ''ईश्वरेच्छा'' कहना भी निर्बल अथवा मिथ्या ज्ञान वाले मनुष्य की अपनी मनोवृति का प्रतीक है। परमात्मा की महिमा सदैव ''सुख-कर्त्ता'' एवं ''दु:ख-हर्त्ता'' जैसे शब्दों से की जाती है, न कि ''सुख एवं दु:ख दाता'' इत्यादि शब्दों से। **अगर सुख के साथ दु:ख भी परमात्मा ही देते होते तब तो उनकी महिमा की आवश्यकता ही न रहती। क्या कभी कोई व्यक्ति सूर्य को प्रकाश एवं अन्धकार दोनों ही का देने वाला मानता है? कदापि नहीं। सूर्य का कार्य सदैव प्रकाश देना और अन्धेरे को भगाने का है। बस, इसी प्रकार परमात्मा भी सुख-कर्त्ता एवं दु:ख-हर्त्ता है।** जब-जब मनुष्य दु:खी होता

है तब-तब वह परमात्मा को पुकारता है; इससे भी यह बात सिद्ध होती है कि परमात्मा का कार्य दु:ख से छुड़ाने का है, दु:ख के बन्धनों में जकड़ने का नहीं। परमात्मा सुखदाता तो अवश्य है परन्तु कर्म के सिद्धान्तों को वे भी नहीं तोड़ते हैं। इसलिए ही तो वे कहते हैं कि "मैं जो मत दूँ, उसके अनूसार कर्म करोगे तभी सुखी बनोगे।" इस प्रकार आचरण अर्थात् कर्म महिमा उन्होंने भी बताई है। अत: दु:ख के नाश एवं सुख की प्राप्ति के लिये पवित्र प्रवृत्ति की ही अपेक्षा रहती है।

सुख के लिए ज्ञान को व्यवहार में लाना आवश्यक है

बहुतों की मान्यता है कि ज्ञान से सुख मिलता है। अत: सुख की प्राप्ति के लिये वे ज्ञानी बनने का पुरुषार्थ करते हैं। किन्तु वास्तव में ज्ञान तो 'समझ' ही का दूसरा नाम है। 'समझ' अथवा ज्ञान तो साधन है, साध्य नहीं।

ज्ञान लेने के बाद भी कर्म को श्रेष्ठ करने की आवश्यकता तो फिर भी रहती ही है। अत: याद रहे कि ज्ञान को भी आचरण एवं व्यवहार में लाने की आवश्यकता है।

दु:ख की निवृत्ति संकल्पों को जीतने से नहीं होती

सुख एवं दुख का अनुभव मन द्वारा होता है। इससे बहुत लोगों की यह धारण हो गई है कि मन को जीतने से दु:ख को जीत सकेंगे। किन्तु मन तो एक साधन मात्र है जिसके द्वारा हम अनुभव करते हैं। मन का कार्य संकल्प करना है। संकल्प तो उठेंगे ही। उपनिषद में यह जो लिखा है कि परमात्मा को नई सृष्टि रचने का संकल्प उत्पन्न हुआ- इससे सिद्ध है कि

संकल्प तो परमात्मा भी करते हैं। संकल्प तो देवताओं के मन में भी उठते हैं।

विकल्प और विकर्म ही दु:ख का कारण

अत: दुखों को दूर करने के लिये संकल्पों को नहीं बल्कि मन में जो विकार-युक्त संकल्प चलते हैं, उन्हें जीतने की जरूरत है। ये विकल्प ही 'माया जाल' हैं। 'माया' प्रकृति या धन-सम्पत्ति का नाम नहीं है, बल्कि विकारों ही का दूसरा नाम है। मुख्य रूप से विकार पांच ही हैं जिनके नाम काम, क्रोध, लोभ, मोह और अशुद्ध अहंकार हैं, विकार के वश जो विचार चलते हैं, उनको विकल्प अथवा दूषित संकल्प कहते हैं और विकार-युक्त जो कर्म हों उन्हें 'विकर्म' कहा जाता है।

सुख की प्राप्ति और दु:ख की निवृत्ति के लिए हमारे जो कर्म हैं, उन्हें विकर्म न बनने देते हुए सत्कर्म करने का पुरुषार्थ करना चाहिए और उसके लिए आवश्यक ज्ञान लेना चाहिए। ज्ञान एक साधन है और उसे साधन रूप में प्रयोग में लाने से ही ज्ञान की सार्थकता बढ़ेगी और तभी ज्ञान भी फलीभूत होगा।